स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में राजनीतिक सन्दर्भ

इलाहाबाद युनिवर्सिटी की डी० फ़िल्० उपाधि के लिए प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

लेखिका

कु० शशिबाला

निर्देशक

डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, एम० ए०, डी० फ़िल्०, डी० लिट्०

(भूतपूर्व वरिष्ठ प्रोफ़ेसर तथा अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद युनिवर्सिटी)

जून, १९८४

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों

में

राजनीतिक सन्दर्भ

(इलाहाबाद युनिवर्सिटी की डी०फिल० उपाधि के लिए प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध)

लेखिका

कु० शशिबाला

निर्देशक

डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, एम०ए०, डी०फिल०, डी०लिट्०

(भूतपूर्व वरिष्ठ प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, हिन्दी विभाग)

इलाहाबाद युनिवर्सिटी

कु०, रंजना सैनी

<u>विषय सूची</u>

पृष्ठसंख्या

आत्म निवेदन

जीवन की धारा में प्रवाहित होने वाला उपन्यास, जेन आस्टिन के अनुसार, मानव-स्वभाव का गहनतम ज्ञान है और वह यथार्थ की भूमि पर आधारित विधा है। जीवन अपने व्यापकतम अर्थ में उसका विषय है। उसमें समाज, धर्म, अर्थ, राजनीति, इतिहास, मनोविज्ञान आदि का चित्रण अपने परिवेश के साथ होता है। आत्मान्वेषण और आत्म साक्षात्कार के साथ वह मनुष्य की दायित्व चेतना तक पहुँचता है। उपन्यासकार जीवन के प्रगतिशील तत्त्वों पर प्रकाश डालता है। उपन्यास के शब्दार्थ की दृष्टि से वह मानव-जीवन के विविध पक्षों और उभरते हुए आयामों की उपेक्षा नहीं कर सकता। उसमें आज मानव-जीवन के सन्दर्भ महत्वपूर्ण होते हैं। अतः उपन्यास का चित्र-फलक बहुत व्यापक होता है। उपन्यासकार का कार्य राष्ट्र के लिए हितकारी होता है। इसीलिए उपन्यासकार का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व माना जाता है। वह देश की कला और संस्कृति का चितेरा है। वह नए मूल्यों की स्थापना और व्यक्ति की गरिमा की रक्षा करता है। स्वातन्त्र्योत्तर भारत के बिखरे हुए जीवन में तो उपन्यासकार का दायित्व और भी अधिक हो गया है। उसे इस माहौल में देश की समवेत शक्ति का आवाहन करना है। संकट की स्थिति से मानव को उबारना है। विज्ञानजनित यांत्रिकता और भीड़भाड़ के मनोविज्ञान से उसकी रक्षा करनी है। राष्ट्रीय दृष्टि से देश के विभाजन के पश्चात् मानवता का भी वास्तव मूल्य हुआ, गांधी जी का भी स्वप्न खंडित हुआ और देश की राजनीति में भी घुन लगा जिससे देश में एक विचित्र स्थिति उत्पन्न हो गई है। सारा देश और समाज टूट रहा है। मध्यम वर्ग पीड़ित है —हर तरह से। चारों तरफ तनाव, कुंठा और शोषण की स्थिति है। उपन्यास ने उसे भी चित्रित किया है।

वैसे भी आधुनिक युग में उपन्यास-साहित्य की लोकप्रियता और महत्ता सर्वविदित है । युगीन समस्याओं के समाधान की दृष्टि से उपन्यास ने महाकाव्य और नाटकों का स्थान ग्रहण कर लिया है । नाटक में नाट्यशास्त्रीय नियमों, रंगमंच और अभिनेताओं के कौशल आदि दुरूहताएं, असुविधाएं और सीमाएं हैं जो उपन्यास में नहीं हैं । प्रजातंत्र और मध्यम वर्ग के विकास के साथ आज उपन्यास ने महाकाव्य की व्यापकता ग्रहण कर ली है । उसमें व्यापकता, उदात्तता और आत्मीयता रहती है । उसे कहीं भी किसी पेड़ के नीचे लेटकर पढ़ा जा सकता है । साहित्य की वैसे सभी विशिष्टताएं उसमें समन्वित हो गई हैं । जीवन और जगत् के उत्तरोत्तर संघर्ष में जो रूपान्तर घटित हो रहा है उपन्यास उसे चित्रित कर रहा है । वह मानव के उसके परिवेश के साथ सम्बन्ध के उत्तरोत्तर विकास की अभिव्यक्ति बन गया है । वह मन की स्वतन्त्रता की घोषणा कर रहा है । उन्नीसवीं शताब्दी/उत्तरार्द्ध में अपने जन्म-काल से ही अंध-विश्वासों, अन्ध-परम्पराओं और कृत्रिम मूल्यों तथा झूठी मान-मर्यादाओं के प्रति उसने विद्रोह-किया है । वह राजनीति के भय-प्रलोभनसे भी ऊपर उठता है । व्यक्ति की आत्म-गरिमा की खोज में उपन्यास मन की गहराइयों तक में उतरता है और मानव-मन के कार्य-कारण के सूत्र खोजने का प्रयास करता है । जीवन के प्रति अपनी आस्था के फल-स्वरूप उसने व्यक्ति को पहचानने की कोशिश की और समाज के साथ उसका तादात्म्य स्थापित करने का प्रयास किया और कर रहा है । उसने व्यक्ति और समाज दोनों की धड़कनें पहचानी हैं, उनकी नब्ज़ टटोली है ।

१९४७ में प्राप्त स्वतन्त्रता के बाद तो उपन्यास अपने इस उद्देश्य या कर्तव्य के प्रति और भी अधिक जागरूक हो गया है । स्वातन्त्र्योत्तर भारत में मानव-मूल्यों के विघटन, जीवन की [illegible]-कुंठा, अराजकता, विसंगति, भ्रष्टाचार आदि ने उसे नया रूप-रंग और आकार दिया है और उसमें कुछ शाश्वत प्रश्न उठाए हैं । प्रेमचन्द की समाजोन्मुखी प्रवृत्ति का अभी ह्रास भी न हुआ था कि स्वातन्त्र्योत्तर भारत की सर्वतोमुखी अराजकता ने उपन्यासकार को परिवेश के प्रति और भी सजग कर दिया और उसने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में

स्वार्थान्धता, अर्थ मूल्यों, अनैतिकता, खोखली परम्पराओं को ललकारा, और व्यक्ति के आत्मकेन्द्रित हो जाने के कुपरिणामों को चित्रित करते हुए मानवतावादी दृष्टिकोण व्यक्त किया। समष्टि के हित-चिन्तन की दृष्टि से ही उपन्यासकारों ने अपनी कृतियों में राजनीति को भी स्थान दिया है जो आज के जीवन में सर्वोपरि मानी जाती है। वर्तमान प्रधानमंत्री, श्रीमती इन्दिरा गांधी, के हाल के एक वक्तव्य के अनुसार राजनीति हमारे जीवन का प्रमुख अंग है। उपन्यास से जिस यथार्थ और सत्यता की मांग की जाती है वह उसका निर्वाह कर रहा है और नई सम्भावनाएं उजागर कर रहा है। वह अनैतिकता और नैतिकता के बीच डूबता-उतराता हुआ सामयिक जीवन के प्रगतिशील तत्त्वों की ओर संकेत कर रहा है। निरन्तर गहरा होते हुए मानवीय संकट को व्यापक सन्दर्भों में रेखांकित करने के लिए वह प्रगतिशील है। अभी उसकी सीमाएं भी हैं, तो भी स्वातंत्र्योत्तर भारत की नब्ज पकड़ने के लिए वह जीवन के विभिन्न पार्श्व स्पर्श कर रहा है, यह निस्सन्देह कहा जा सकता है। शिल्प की दृष्टि से भी स्वातन्त्र्योत्तर उपन्यासों ने अपना व्यक्तित्व बना लिया है।

हिन्दी उपन्यास में सामाजिक दृष्टिकोण भारतेन्दु कृत "पूर्ण प्रकाश और चन्द्रप्रभा" (१८८९ ई०) उपन्यास में तथा उसके बाद के उपन्यासों में ही व्यक्त होने लगा था। इसी परम्परा का पालन प्रेमचन्द ने किया और फिर राष्ट्रीय जीवन की गतिविधियों से कदम मिलाते हुए वे आगे बढ़ते गए। प्रेमचन्द का दृष्टिकोण आदर्शोन्मुख-यथार्थवाद का था। उपन्यास-साहित्य के पिछले शताधिक वर्षों में विषय, उपादान और कला की दृष्टि से उसका उत्तरोत्तर विकास हुआ है। ज्यों - ज्यों उपन्यासकार का अनुभव-क्षेत्र व्यापक होता गया है, त्यों - त्यों उसे अपने में समाविष्ट करने की शक्ति उपन्यास ने अर्जित की है। आज उपन्यासों का एक विशाल समूह विभिन्न प्रवृत्तियों के आधार पर अपनी शक्ति का परिचय दे रहा है और उसका बहुमुखी विकास हो रहा है।

प्रत्येक उपन्यासकार का अपना एक वस्तुजगत होता है। किन्तु वह किसी एक इतिहास को दुहराता हुआ नहीं चलता। सब कुछ उसके लिए ग्राह्य नहीं होता। वह अपने रचना-संसार को ढूंढ निकालता है जो उसकी सम्वेदना की मांग से प्रेरित होता है। कालसापेक्षता के साथ उपन्यासकार का अनुभव, उसकी दृष्टि, उसका 'विज़न' बदलता रहता है। परिवेश को वह चित्रित करता है। ऐतिहासिक उपन्यास, राजनीतिक उपन्यास, मनोवैज्ञानिक उपन्यास के मूल में परिवेशगत वस्तु का आभास रहता है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में राजनीतिक सन्दर्भों को लेकर ही उपन्यासों का अध्ययन किया गया है। इसलिए उनमें निहित अन्य सामाजिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक, मानव-सम्बन्धों और मूल्यों, स्वातन्त्र्योत्तर कालीन जीवन की विसंगतियों, आंचलिकता, यथार्थवाद आदि पर ध्यान अधिक केन्द्रित नहीं किया गया। जहाँ तक हो सका है मैंने मनोनीत विषय तक ही अपने को सीमित रखा है ताकि विषय का अनावश्यक विस्तार न हो। अन्य अप्रासंगिक विषय मैंने नहीं आने दिए ताकि शोध-प्रबन्ध में बिखराव न आए, उसकी सुगठित (Compact) शैली बनी रहे और अनावश्यक रूप से उसका आकार न बढ़े। यों तो रचनाकार की बहुविध दृष्टि रहती है, जो यथार्थ पर आधारित रहती है, किन्तु शोध-रचना-प्रविधि की दृष्टि से अपने विषय तक सीमित रखना ही उचित समझा गया है।

शोध-प्रबन्ध में मैंने उपन्यासों को केवल उनके काल-क्रमानुसार रखने की चेष्टा की है। उन्हें प्रवृत्तियों के अनुसार (सामाजिक, समाजवादी, मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक, आंचलिक आदि) या शिल्प के अनुसार (आत्मकथा, अन्तर्कथा, डायरी, पत्र, सिनेरियो-शिल्प — जैसे सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, का 'सोया हुआ जल' — चरित्र-चित्रण, भाषा आदि) या देश-काल-वातावरण के अनुसार वर्गीकृत नहीं किया गया। उन्हें केवल राजनीतिक सन्दर्भों की प्रमुखता की दृष्टि से देखा गया है। इतना अवश्य है कि उन्हें विशुद्ध राष्ट्रीय दृष्टि से विभिन्न कोणों से लिये गए और मार्क्सवादी दृष्टिकोण से लिये गए

दो वर्गों में बांट दिया गया है, क्योंकि देश की स्वातन्त्र्योत्तर विचारधारा मोटे तौर से इन्हीं दो वर्गों में बंटी हुई है । विशुद्ध राष्ट्रीय दृष्टिकोण से सम्पन्न लेखक निश्चित मतानुयायी और वादग्रस्त लेखक नहीं हैं —जैसे वाम-पंथी लेखक हैं । वे राष्ट्रीय पथ के शोधी हैं । उनका समाधान भी राष्ट्रीय है । वामपंथ के विपरीत 'दक्षिणपंथ' शब्द राजनीति में प्रचलित अवश्य है, किन्तु उसमें संकीर्णता बतलाई जाती है, इसलिए इस शब्द का प्रयोग नहीं किया गया । स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास का भविष्य उज्ज्वल है । उसकी परम्परा निरन्तर समृद्ध हो रही है । उसमें नए आयामों का विकास हो रहा है ।

यह कहना तो मेरी धृष्टता होगी कि मैंने समग्र स्वातन्त्र्योत्तर उपन्यास-साहित्य का आकलन कर लिया है । अपनी सीमित शक्ति और समय को देखते हुए, मेरे ही लिए नहीं, मेरी जैसी स्थिति के शोधार्थी के लिए आज के सम्पूर्ण उपन्यास-साहित्य का अध्ययन-विवेचन करना असम्भव सा लगता है । अपने विषय को दृष्टिपथ में रखते हुए भी सभी उपन्यासों का विवेचन करना अनावश्यक था । इसीलिए अनेक प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध उपन्यासों का उल्लेख शोध-प्रबन्ध में नहीं किया गया या प्रसंगवश संक्षेप में कर दिया गया है । ऐसे उपन्यासों की चर्चा भी नहीं की गई जिनमें आलोच्य विषय से सम्बन्धित प्रवृत्ति ही नहीं पाई जाती या ठीक से उभर नहीं पाई अथवा ऐसे अनेक उपन्यासकारों की भी चर्चा नहीं की गई जो उपन्यास-साहित्य में अपना स्थान नहीं बना पाए । अनेक उपन्यास ऐसे हैं जिनमें स्वातन्त्र्योत्तर राजनीति के विस्तृत या संक्षिप्त सन्दर्भ मिलते हैं । यथा सम्भव उन सभी उपन्यासों पर विचार किया गया है जिनमें राजनीति के विस्तृत और स्पष्ट संकेत मिलते हैं या अप्रत्यक्ष रूप में संकेत मिलते हैं । उपन्यासों की भीड़ में ऐसे सार्थक उपन्यासों की संख्या कम है जो अपना व्यक्तित्व बना चुके हैं । हो सकता है उपन्यासों की इस भीड़ में किसी उपन्यास का उल्लेख न हो पाया हो तो वह क्षम्य माना जाय ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में यह आँका गया है कि उपन्यासकार स्वातन्त्र्योत्तर राजनीति के बारे में क्या सोचता है, क्या कहता है, और किस बात पर बल देता है। कृतियों का मूल्यांकन मैंने वस्तुनिष्ठ दृष्टि से किया है। उपन्यासकार वास्तव का सृजन करता है। मैंने उसे जानने पहचानने की कोशिश की है। लेखक के उद्देश्य को निश्चित रूप से बता पाना तो कठिन है। मैंने उस ओर केवल कदम उठाया है।

उपन्यास-साहित्य के ऐतिहासिक और प्रवृत्तिगत अध्ययन की दिशा में, आलोचनात्मक पुस्तकों या शोध-प्रबन्धों के रूप में, काफी कार्य हो चुका है। प्रेमचन्द के पूर्व या उनके बाद के उपन्यास-साहित्य का अध्ययन हमें हिन्दी साहित्य के छोटे-बड़े सभी इतिहास-ग्रन्थों में मिलता है। समाजशास्त्रीय या समाज-सापेक्ष अध्ययन भी हुए हैं। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में जीवन-दर्शन की खोज भी की गई है। वर्ग-भावना, हिन्दी उपन्यासों पर पाश्चात्य प्रभाव, हिन्दी उपन्यासों में नारी-भावना आदि विषयों पर भी काफी कार्य हो चुका है। किन्तु राजनीतिक सन्दर्भों की दृष्टि से लिखे गए शोध-प्रबन्धों की संख्या बहुत कम है। प्रस्तुत विषय की दृष्टि से डा० देवीदत्त तिवारी कृत 'भारतीय स्वातन्त्र्य-संघर्ष और हिन्दी उपन्यास (१८८५ से १९५० ई०)', कुमारी दीपा शर्मा कृत 'यशपाल के उपन्यासों में राजनीतिक चेतना का विकास' डा० धर्मपाल सरीन कृत 'हिन्दी साहित्य और स्वाधीनता संघर्ष', डा० कृष्णा सिंह कृत 'हिन्दी के राजनीतिक उपन्यासों का अनुशीलन' ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। ये ग्रन्थ उनके अध्यवसाय और आलोचनात्मक क्षमता के परिचायक हैं। उन्होंने राजनीति को आधार बनाकर भारतीय राजनीति के विविध स्तरों और विचार-धाराओं को स्वीकार कर यह स्पष्ट किया है कि किस प्रकार हिन्दी उपन्यास राष्ट्रीय चेतना से सम्पृक्त रहा है। इसी आधार पर उन्होंने राजनीतिक चेतना का विकास प्रस्तुत किया है। किन्तु इन शोध-प्रबन्धों में राष्ट्रीय आन्दोलनों और हिन्दी उपन्यास के ऐतिहासिक विकास को समानान्तर मानकर विचार करने की प्रवृत्ति अधिक दृष्टिगोचर होती है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में यह पद्धति ग्रहण नहीं की गई । मैंने राजनीति की प्रमुख प्रवृत्तियों के आधार पर अपना अध्ययन प्रस्तुत किया है और उपन्यासों में से ही राजनीतिक चेतना का स्वरूप उद्घाटित करने का प्रयास किया है । फिर, मेरे पूर्ववर्ती लेखकों ने प्रसिद्ध-प्रसिद्ध उपन्यासों को ही अपने अध्ययन का विषय बनाया है । मैंने ऐसे अनेक अज्ञात लेखकों की कृतियों का भी अध्ययन किया है जिनकी ओर पूर्ववर्ती लेखकों का ध्यान नहीं गया था । इससे स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों का संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत हो सका है । मेरे पूर्ववर्ती लेखकों ने अधिकतर स्वतन्त्रता-संग्राम पर ध्यान केन्द्रित किया है । प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में स्वतन्त्रता - काल में लिखे गए उपन्यासों में स्वतन्त्रता-संघर्ष और स्वतन्त्रता-कालीन दोनों से सम्बन्धित सूत्र खोजे गए हैं । मेरे पूर्ववर्ती अध्ययनों में बाह्य व्यापकता अधिक है — अधिक-से-अधिक राष्ट्रीय चेतना का इतिहास देने के कारण । उनमें राजनीतिक सन्दर्भों में अन्तर्निहित सूक्ष्म विकास उभर नहीं पाया । उनमें उपन्यासों के काल-क्रम पर भी अधिक ध्यान नहीं दिया गया । प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध की मौलिकता इस दृष्टि से है कि लेखिका ने इन अनावश्यक बातों से अपने को बचाया है और हिन्दी उपन्यासों की राजनीतिक प्रवृत्तियों का निर्धारण एवं विश्लेषण किया है । अपने शोध-काल से सम्बन्धित उपन्यासों का मनोयोगपूर्वक अध्ययन कर प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध की लेखिका इसी निष्कर्ष पर पहुँची है कि हिन्दी उपन्यासों के राजनीतिक सन्दर्भों के व्यापक सूक्ष्म एवं गहन अध्ययन विश्लेषण की आवश्यकता अपेक्षित थी । प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में प्रवृत्ति निदर्शन पर ही अधिक बल देकर इस अभाव की पूर्ति की गई है ।

अपने प्रस्तुत शोध - प्रबन्ध के सम्बन्ध में इलाहाबाद युनिवर्सिटी लाइब्रेरी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन के संग्रहालय, नागरी प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय, भारती भवन लाइब्रेरी, प्रयाग, पब्लिक लाइब्रेरी, इलाहाबाद आदि से जो सहायता प्राप्त हुई उसके लिए मैं इन संस्थाओं के अधिकारियों के प्रति कृतज्ञ हूँ ।

मैं उन सभी विद्वानों और लेखकों के प्रति भी कृतज्ञ हूँ जिनकी रचनाओं

और विचारों से प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के प्रणयन में सहायता प्राप्त हुई है ।

अन्त में मैं अपने निर्देशक गुरुवर आचार्य डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय , एम०ए०,डी०फिल, डी०लिट्० (भूतपूर्व वरिष्ठ प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग तथा भूतपूर्व डीन, कला संकाय,इलाहाबाद युनिवर्सिटी) के प्रति आभार से नत हूँ जिनकी असीम कृपा से यह शोध-विषय प्राप्त हुआ और जिनके मार्ग-प्रदर्शन से यह शोध-प्रबन्ध पूर्ण हुआ । मैं उनके सामने श्रद्धावनत हूँ ।

— शशिप्रभा

अध्याय १

उपन्यास और राजनीति

समकालीन साहित्य-विधाओं में उपन्यास-साहित्य सबसे विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण विधा है । इसकी विशिष्टता का एक यह अंग भी है कि उसकी परिभाषा देना कठिन है । वास्तव में हिन्दी तथा अन्य देशों के उपन्यास-साहित्य का इतिहास ही उसकी सबसे अच्छी परिभाषा है । सब देशों के उपन्यास-साहित्य के इतिहास पर दृष्टि डालने से यह ज्ञात हो जाता है कि वह मानव की जीवन-परिस्थितियों के साथ सम्बन्ध की अभिव्यक्ति के उत्तरोत्तर विकास का प्रतिनिधित्व करता आया है । उसमें मानव-जीवन के दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति निरन्तर होती रही है । इसलिए समाज का जीवन-दर्शन उसकी सर्वोत्तम परिभाषा मानी जा सकती है । उसमें वस्तुपरकता से आगे की दृष्टि रहती है । प्रत्येक उपन्यास के पीछे एक दृष्टिकोण होता है । यह दृष्टिकोण स्थिर नहीं होता, वरन उसका निरन्तर विकास होता रहता है । बाह्य वस्तु लेखक के संवेदनों में मिलकर दृष्टिकोण रचता है । उपन्यास, इसलिए, जीवन को एक निश्चित दिशा देता है । वह जीवन को गति प्रदान करता है, चेतनता प्रदान करता है, आगे का रास्ता साफ़ करता है । वह सत्य की खोज करता है ।

यद्यपि `उपन्यास` अपने में इतना व्यापक अर्थ रखता है कि उसे किसी एक परिभाषा की सीमा में नहीं बाँधा जा सकता, तो भी उसके शब्दार्थ से उसका लक्षण काफ़ी स्पष्ट हो जाता है । उप + नी + आस = समीप या सामने रखना = जीवन को समीप या सामने रखकर देखना । अर्थात् `उपन्यास`

में मानव जीवन को निकट से देखकर उसे पाठकों के सामने रखा जाता है । इसी व्युत्पत्ति को इस प्रकार भी व्यक्त किया गया है : `उपन्यास` शब्द संस्कृत के अस् धातु से बना है । जिसका अर्थ होता है, `रखना` । `उप` और `नि` पूर्वक `अस्` धातु में `घञ्` प्रत्यय जोड़ने से ही `उपन्यास` शब्द बना है । इस आधार पर उपन्यास का अर्थ हुआ, वह रचना जिसमें जीवन के अनेक पदार्थों का प्रक्षेपण निकट या समीप से किया गया हो । `उप` का अर्थ है समीप और `न्यास` का अर्थ थाती । अतः उपन्यास की संज्ञा ऐसी रचना को दी जा सकती है जिसे पढ़कर अपने जीवन की वास्तविक यथार्थवादी प्रक्रियाओं का आभास हो, और निकटता की अभिव्यक्ति हो । इसके अतिरिक्त उपन्यास में `उप` का अर्थ छोटा या लघु होता है, अर्थात् उपन्यास में लघु जीवन की व्याख्या रहती है, उपन्यास में लघु या सीमित जीवन का गहन अध्ययन होता है । उपन्यास में हमारे यथार्थ जीवन का आभास अपेक्षाकृत सीमित एवं गहन होता है । मोपासाँ, एमर्सन, शेली[1] आदि ने इस बात की ओर संकेत किया है कि जीवन में जो अस्पष्टता है और जो असंगति दृष्टिगोचर होती है उपन्यासकार उसे सुनिश्चित एवं सुबद्ध रूप प्रदान करता है । जीवन की अपूर्णता में पूर्णता प्रदान कर वह कलात्मक ढंग से उसे सुनिर्दिष्ट रूप प्रदान करता है । वह जीवन की गति को अपनी संवेदनशीलता से अभिव्यक्त कर, पाठकों की कुतूहल वृत्ति को जाग्रत कर, घटना-~~तत्त्वों~~ [तत्त्वों] और चारित्रिक तत्त्वों पर बल देता है । उपन्यास में व्यक्ति के रूप में उपन्यासकार का

---

१. इन्ट्रोडक्शन टु पियरे (Pierre) ऐ ज्यां (Jean) ([illegible])— नोवेलिस्ट्स आन द नॉवेल, पृ० १३-१४
मैट, चार्ल्स डब्ल्यु - एमर्सन, ऑ० डीक्वेंसी —`द न्यु लिटरेरी ऑफ वाद्स`, पृ० ३१२-३१४ ।

का अपना व्यक्तित्व तो प्रतिबिम्बित रहता ही है, साथ ही उसमें समष्टिगत जीवन का चित्रण भी रहता है, युग की सीमाओं के साथ जीवन की अभिव्यक्ति रहती है, उसमें युग की समस्याएं और उनका समाधान भी रहता है । उपन्यासकार मानव जीवन को विश्लेषणात्मक और अभिनयात्मक दोनों शैलियों द्वारा स्पष्ट करता है । वास्तव में मनुष्य का कृतित्व ही उपन्यास की सामग्री है । अंग्रेजी के प्रसिद्ध लेखक ई०एम० फ़ार्स्टर[१] ने बताया है कि उपन्यासकार अपने पात्रों की सृष्टि, उनकी मनोदशा का चित्रण, साधारण मानवों- की अपेक्षा अधिक संकुल रूप से करता है । इन सभी कारणों से उपन्यास साहित्य की न केवल एक महत्त्वपूर्ण विधा है, वरन् एक लोकप्रिय विधा भी है ।

हिन्दी में जिस साहित्यिक विधा को हम आज उपन्यास कहते हैं वह पाश्चात्य प्रभाव के अन्तर्गत आधुनिक युग की देन है । किन्तु उपन्यास शब्द अपने मूल रूप में संस्कृत शब्द है । उदाहरणार्थ, मनु ने निम्नलिखित श्लोक में `उपन्यास` शब्द का प्रयोग किया है -

`पुत्र प्रत्युदितं सद्भिः पूर्वजैश्च महर्षिभिः ।
विश्वजन्यमिमं पुण्यमुपन्यासं निबोधत ।। ९।३१

संस्कृत नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में `उपन्यास` प्रतिमुख संधि के एक उपभेद की संज्ञा है इस सन्दर्भ में उसका अर्थ `प्रसादन` से लिया गया है । दूसरी व्याख्या के अनुसार `अर्थ` को युक्ति-युक्त रूप में उपस्थित करना ही `उपन्यास` है । हितोपदेश में अपने कार्य की सिद्धि के लिए जो उपाय, `साम-दाम-दण्ड-भेद, प्रयोग में लाया जाता है उसे नीतिवेत्ताओं ने `उपन्यास` कहा है । अमरकोश में भी `उपोद्घात उदाहारः उपन्यासः` कहा है । वास्तव में प्राचीन काल में उपन्यास शब्द

---

१. `ऐस्पैक्ट्स ऑफ द नॉवेल`, पृ० ४९-७३, ७७-७९

का प्रयोग कई अर्थों में हुआ है जैसे :-- सन्दर्भ, समीप रखना, धरोहर, भूमिका, बताना आदि । दक्षिण की भाषाओं में इस शब्द का प्रयोग भाषण, व्याख्यान, निबन्ध के रूप में हुआ है । इस प्रकार उपन्यास शब्द प्राचीन है ।

आधुनिक काल में अंग्रेजी के माध्यम द्वारा हम पश्चिम के तीन शब्दों से परिचित हुए --`नॉवेल`, `रोमांस`, `फिक्शन` । `फिक्शन` शेष दो की अपेक्षा अधिक व्यापक शब्द है --यद्यपि अपने व्यापक अर्थ में `फिक्शन` शब्द का प्रयोग गद्य या पद्य में कल्पना-प्रधान विधा के लिए किया जाता है --जैसा कि अंग्रेजी के विद्वान् सेन्ट्सबरी ने कहा है । किन्तु इस शब्द का सीमित अर्थ, भी लिया गया है जिसके अनुसार `फिक्शन` गद्य की वह विधा है जिसमें कोई बात कथात्मक शैली में कही गई हो । किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से `नॉवेल`, `रोमांस`, `फिक्शन`, तीनों शब्द पर्यायवाची, माने गए हैं । `नॉवेल` और `रोमांस` `फिक्शन` की दो शाखाएं हैं, `रोमांस` उसका प्राचीन रूप है `जिसमें साहसिक कार्यों` प्रेम, धर्म, काल्पनिक घटनाओं, सामन्तवादी आचार-विचारों आदि का प्राचुर्य रहता था । सांकेतिक रूप में यत्तत्र मानवीय सन्दर्भ मिल जाने पर भी रोमांसों का मानव जीवन की समस्याओं से सम्बन्ध एक प्रकार से रहता ही नहीं था । ऐसी रचनाओं में राबिन्सन क्रूसो का यात्रा-वर्णन एक प्रमुख उदाहरण है । यूरोपीय साहित्य में रोमांसों की अपेक्षा नॉवेल में मानव जीवन का सूक्ष्म अध्ययन रहता है । उपन्यास नाटक रूप में परिणत हो सकता है किन्तु अपने में वह नाटक नहीं है । एक अंग्रेज लेखक के अनुसार :--
'A Novel is a drama in One's pocket.'

उपन्यास की क्या कोई निश्चित परिभाषा हो सकती है ? उत्तर है कि उपन्यास की अनेक परिभाषाएं हैं ।[१] उन सब का अध्ययन करने पर निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि उपन्यास "An epic in prose (फील्डिंग), या 'A picture of real life and manners, and of the times in which it is written'

(क्लारारीव) या 'The art of fictitious narrative in prose' (स्टीवेन्सन) है । तात्पर्य यह है कि उपन्यास जीवन की व्याख्या है । गद्य उसका माध्यम है । एक सुविज्ञ के अनुसार उपन्यास में वास्तविक के साथ काल्पनिक घटनाओं का समावेश होता है । प्रेमचन्द के अनुसार मानव-चरित्र पर प्रकाश

---

१. दे० ई०ए० बेकर : 'दि हिस्ट्री ऑफ इंगलिश नॉवेल', लन्दन, प्रथम भाग, पृष्ठ १५ ।
एडविन म्यूर : 'स्ट्रक्चर ऑफ द नॉवेल,' लन्दन, १९२८
आर्नल्ड कैटिल : 'इन्ट्रोडक्शन टू द इंग्लिश नॉवेल', लन्दन, पृ०१२,२८
रैल्फ फ्राक्स : 'द नॉवेल एण्ड द पीपुल,' लन्दन, पृ० २९,८०
हेनरी जेम्स : 'द आर्ट ऑफ फिक्शन, न्यू यॉर्क, १९४८
रॉबर्ट जे० म्यूलर : 'माडर्न फिक्शन, ए स्टडी आफ वैल्यूज,' पृ० १४
क्लारा रीव : 'प्रोग्रेस आफ रोमांस,' , पृ० १८
वेबस्टर्स ट्वेन्टियथ सेंचुरी डिक्शनरी, पृ० ७३२
ई०एम० फॉस्टर : 'ऐस्पेक्ट्स ऑफ द नॉवेल', लन्दन, पृ० ६
रिचर्ड चर्च : 'द ग्रोथ ऑफ द इंग्लिश नॉवेल'
एरा बोल्फर्ट : 'ह्वाट इज द नॉवेल एण्ड ह्वाट इज इट गुड फ़ार' न्यूयार्क
वेबस्टर : 'द न्यू इन्टरनेशनल डिक्शनरी ऑफ इंगलिश, ... पृ० ८
एल्डर ओल्सेन : 'द आर्ट ऑफ नॉवेल, न्यू यॉर्क, १९३२
प्रेमचन्द : 'कुछ विचार', बनारस, पृ० ७२
इसके अतिरिक्त रामचन्द्र शुक्ल, डा० श्यामसुन्दर दास तथा 'आलोचना' के (उपन्यास विशेषांक) तथा अन्य अनेक लेखकों ने भी उपन्यास की परिभाषाएँ दी हैं ।

डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है । अत: उपन्यास मानव-चरित्र का चित्र है । अथवा, एक और सुविज्ञ के अनुसार, उपन्यास में पाठकों को स्वयं अपने बारे में ही जानकारी प्राप्त होती है । एक विद्वान् ने लिखा है कि उपन्यास यथार्थ जीवन एवं पद्धतियों का तथा उस काल का, जिसमें उसकी रचना होती है, वास्तविक चित्र होता है । उपन्यास में मानवीय अनुभवों का समावेश होता है और मानवीय अनुभवों की सीमा अनन्त है । उसमें यथार्थ की प्रतिच्छाया रहती है । वह उस सृष्टि का यथार्थ चित्र है जिसमें कलाकार, उसका सामाजिक रूप, उसका वर्ग सभी कुछ आ जाता है । उपन्यास अंतर्गत चेतना का चित्रण भी करता है । उपन्यास के विषय का विस्तार मानव-चरित्र से किसी प्रकार कम नहीं है । उसका सम्बन्ध अपने चरित्रों के कर्म और विचार, उनके देवत्व और पशुत्व, उनके उत्कर्ष और अपकर्ष से होता है । मनोभावों के विभिन्न रूप और भिन्न-भिन्न दशाओं में उनका विकास उपन्यास के विषय हैं । उपन्यास की लोकप्रियता और महत्त्व का कारण उसका विषय विस्तार ही है । उन्होंने बताया है कि संसार की प्रत्येक वस्तु उपन्यास का विषय-वस्तु बन जाती है । प्रकृति का प्रत्येक रहस्य, मानव जीवन का हर पहलू जब किसी सुयोग्य लेखक की कलम से निकलता है तो वह साहित्य-रत्न बन जाता है । इसके साथ ही विषय का महत्व और गहराई भी उपन्यास के सफल होने में बहुत सहायक होती है । यह ज़रूरी नहीं कि हमारे चरित्र-नायक ऊँची श्रेणी के ही मनुष्य हों । हर्ष और शोक, प्रेम और अनुराग, ईर्ष्या और द्वेष मनुष्य मात्र में व्यापक है । लेखक को हृदय के केवल उन तारों पर चोट लगानी चाहिए जिनकी झंकार से पाठकों के हृदय पर वैसा ही प्रभाव हो ।

सफल उपन्यासकार का सबसे बड़ा लक्षण है कि वह अपने पाठकों के हृदय में उन्हीं भावों को जागृत कर दे जो उसके पात्रों में हों । पाठक भूल

जाय कि वह कोई उपन्यास पढ़ रहा है । उसके और पात्रों के बीच में आत्मीयता का भाव उत्पन्न हो जाय । जो साहित्य-रूप मानव जीवन के इतने अधिक निकट है, जो मानव की जटिल-से-जटिल भावनाओं और अनुभूतियों का चित्रण विविधतापूर्ण ढंग से करता है उसकी एक निश्चित परिभाषा देना कठिन है । इसलिए, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, उसका इतिहास ही उसकी सच्ची परिभाषा है । उपन्यास में जीवन के सीमित क्षेत्र का गहन अध्ययन होता है । यह विधा यथार्थ जीवन की अपूर्णता को पूर्णता प्रदान कर अपनी कथा में बिखरे हुए जीवन-सूत्रों को सुनियोजित रूप प्रदान करती है । पात्रों की संवेदनाओं और उनके हृदयस्थ स्पन्दन को प्रत्यक्ष करते हुए उपन्यास अपने चारों ओर के जीवन का चित्रण करता है और उससे जीवन की अनेक आर्थिक , धार्मिक राजनीतिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक आदि अनेक गहन समस्याओं का समाधान होता है । साहित्य के अन्य किसी रूप की इतनी अधिक महत्ता कभी नहीं रही जितनी कि आज उपन्यास की है । उसका आज अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व है । आज उपन्यास में नीति के नए मानों के आधार पर नई मान्यताओं की स्थापना समझी जा रही है । आज के उपन्यासों की मुख्य समस्या समाज में प्रचलित नैतिक मान्यताओं तथा नीति सम्बन्धी धारणाओं का खण्डन करके नीति विषयक नए मूल्यों की स्थापना करने की है । आज मानव-चरित्र की विविध सम्भावनाएँ मानवीय जीवन के छोरों का स्पर्श करती है । जीवन के प्रत्येक क्षेत्र और पहलू से उनका सीधा सम्बन्ध होता है । उसमें पुराने मूल्यों के प्रति असहिष्णुता और नए प्रतिमानों की प्रतिष्ठा की आतुरता है । धर्म और नीति के क्षेत्र में वह मानववाद और करुणा के आदर्शों की पुनः प्रतिष्ठा कर, सामाजिक जीवन में विघटनकारी शक्तियों का तिरस्कार कर स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों की नई परिभाषा देकर और आधुनिक जीवन में विज्ञान-जनित यांत्रिकता के फलस्वरूप जीवन-संकट की ओर संकेत कर नए मूल्यों की खोज द्वारा नई दिशाएँ खोलता है, नई दृष्टि प्रदान करता है । विज्ञान और बौद्धिक दृष्टि के फलस्वरूप उत्पन्न विषमता और तज्जनित जीवन-संघर्ष आज के

उपन्यास का मूल सत्य है। जीवन की सभी परिस्थितियों का प्रभाव उपन्यासकार पर पड़ता है। उसमें समाज का हर पहलू रहता है।

हेनरी जेम्स के अनुसार 'उपन्यास' एक प्रकार का इतिहास है। प्रेमचन्द के उपन्यास इसके साक्षात् प्रमाण हैं। इतिहास भी जीवन का प्रतिनिधित्व करता है, उपन्यासकार का काम ज्यादा कठिन इसलिए है कि उसे जीवन में से घटनाओं का चयन करना पड़ता है। कुछ लोग समझते हैं कि उपन्यास की विषय-वस्तु कल्पित होती है। यह गलत है। इतिहास और उपन्यास का परस्पर सम्बन्ध डा० सत्यपाल चुघ ने भली भाँति स्पष्ट किया है।[१] डा० देवराज उपाध्याय ने अपने ग्रन्थ 'आधुनिक कथा-साहित्य और मनोविज्ञान' (१९५९) में उपन्यास और मनोविज्ञान का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध भी अत्यन्त विषदतापूर्ण ढंग से किया है। वास्तव में उपन्यास आजकल सबसे सशक्त साहित्यिक माध्यम समझा जाता है। उसका उद्देश्य मात्र मनोरंजन करना नहीं, वरन् युग की गहन समस्याओं का सुलझाना है। उपन्यासकार को यह ध्यान रखना पड़ता है कि जो समस्या वह अपनी कृति में उठाए, उसके सम्बन्ध में उसका चिन्तन गम्भीर हो और उसका अनुभव यथार्थ हो। इलाचन्द्र जोशी के विचार से किसी भी श्रेष्ठ कलाकृति में युग की केवल उन्हीं समस्याओं को प्रधानता दी जाती है जो सारे युग की, समग्र मानवता की, सामूहिक गति से सम्बन्ध रखती है। उपन्यास 'नया' तभी कहा जा सकता है जब कि वह स्थूल सत्य में नवीन दृष्टिकोण का उद्घाटन करे। ऐसे श्रेष्ठ उपन्यासकारों का लोग सदा अनुकरण करते हैं। नवीनता कभी-कभी जीवन दर्शन के चुनाव या मानवीय चेतना के किसी क्षेत्र की अभिव्यक्ति अथवा चरित्र-निर्माण करके प्रस्तुत की जाती है। प्रत्येक क्षेत्र नवीनता की दिशा में अपना योगदान कर सकता है। नवीनता वस्तु और शैली दोनों में हो सकती है। यह बहुत-कुछ लेखक के दृष्टिकोण पर निर्भर है।

---

१. दे० उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ऐतिहासिक उपन्यास' (१९७७)

प्रत्येक उपन्यासकार का अपना एक विशिष्ट दृष्टिकोण होता है, जिसके माध्यम से वह व्यक्ति, जीवन एवं समाज की समस्याओं का पर्यवेक्षण करता है, और उन्हें उन्हीं के अनुसार प्रस्तुत भी करता है। उसका दृष्टिकोण यथार्थवादी, आदर्शवादी, प्रकृतवादी, व्यक्तिवादी, मनोविश्लेषणवादी, अस्तित्ववादी, क्रांतिवादी आदि प्रकार का हो सकता है जिन्हें औपन्यासिक प्रवृत्तियों के रूप में देखा जाता है।

क्योंकि उपन्यासकार का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसलिए उपन्यासों में राजनीति के सन्दर्भ आ जाना स्वाभाविक है। यह बात दूसरी है कि उपन्यासकार उसे किस रूप और किस मात्रा में ग्रहण करता है। आधुनिक काल में राजनीति जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। प्राचीन भारतीय समाज में धर्म का प्रमुख स्थान था। धर्म सत्ता या राजनीति को संचालित करता था। धर्म ही राजनीतिक व्यवस्था के नियम निर्धारित करता था। इस तथ्य के प्रमाण भारत के आदिकाव्य 'वाल्मीकि रामायण' में भरे पड़े हैं। दशरथ और राम की राजनीति धर्म पर आधारित रही है। सत्ता के किसी-न-किसी रूप में राजनीति समाज में रही है और युग विशेष की सामाजिक व्यवस्था तक को प्रभावित करती रही है। इस राजनीति का समाज से जुड़ा रहना हमेशा से चला आया है। इसलिए राजनीति की महत्ता को दृष्टिपथ में रखते हुए आज के मनीषियों और चिन्तकों ने राजनीतिक समाजशास्त्र (Political Sociology) नामक ज्ञान की शाखा का विकास किया है। हमारे आज के सामाजिक जीवन में तो राजनीति इतनी घुलमिल गयी है कि बिना राजनीति के आज हमारा दृष्टिकोण ही नहीं बनता। उसका सामाजिक सन्दर्भों पर भी यथेष्ट प्रभाव पड़ा है। यह कहना अनुचित न होगा कि आज, विशेष रूप से स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद, हमारे समाज की दिशा राजनीति द्वारा निर्धारित हो रही है। पिछली शताब्दियों में भी या स्वतन्त्रता से पूर्व राजनीतिक हलचलें हुईं और उनसे सामाजिक मूल्य भी परिवर्तित हुए, किन्तु उस समय राजनीति जीवन में इतनी अधिक छाई हुई नहीं थी जितनी वह आज छा गई है।

महात्मा गांधी द्वारा संचालित सत्याग्रह आन्दोलन निश्चित रूप से स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए एक राजनीतिक आन्दोलन था। किन्तु उससे अनेक सामाजिक परिवर्तन भी हुए। आज तो साहित्यकारों की भी अपनी राजनीति है।

वास्तव में स्वातन्त्र्योत्तर भारत में व्यक्ति और राजनीति का सम्बन्ध इतना गहन हो गया है कि एक को दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। मानव संस्कृति के उद्भव काल से ही राजनीति का मानव-जीवन में इतना अधिक हस्तक्षेप रहा है कि चाणक्य, अथवा अरस्तू और प्लेटो जैसे राजनीति के चिन्तक भी व्यक्ति और राज्य को अलग-अलग सन्दर्भों में नहीं देख सके। व्यक्ति समाज में रहता है। व्यक्ति और समाज का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। यदि व्यक्ति समाज बनाता है तो समाज भी व्यक्ति को बनाता है। व्यक्तियों के समाज में राजनीति अपने समग्र रूप में दिखाई पड़ती है। व्यक्ति और समाज राजनीति को प्रभावित करते हैं। यह दोहरी प्रक्रिया शताब्दियों से चली आ रही है।

साहित्य और समाज का घनिष्ठ सम्बन्ध है। साहित्य जिस समाज को लेकर चलता है वह अवश्यम्भावी रूप से राजनीति से कहीं-न-कहीं किसी-न-किसी रूप से जुड़ा रहता है। यह सम्बन्ध प्रत्यक्ष भी होता है, अप्रत्यक्ष भी। उपन्यास साहित्य की एक सशक्त विधा है। आज के जनवादी युग में उसकी यह शक्ति और भी अधिक बढ़ गई है। आज उपन्यास जनवादी समाज का प्रतिरूप है। इसलिए उसमें राजनीतिक सूत्र अनिवार्य रूप से मिल जाते हैं। जीवन के अन्य पक्षों की भाँति भाषा पर भी राजनीति का दबाव पड़ रहा है और कई दिशाओं से पड़ रहा है। भाषा भी राजनीति के दलदल में फँस गई है। जिन तरकीबों से आज जनमत तैयार किया जा रहा है, जिस प्रकार राजनीतिक, प्रशासनिक और व्यावहारिक विज्ञापनों द्वारा व्यक्ति और समूह की प्रतिक्रियाओं को एक साँचे में ढालने का प्रयत्न किया जा रहा है, उसका साधन भाषा

ही है । समाचार पत्रों में भी भाषा राजनीतिक रंग में रंगी होकर पाठकों के सामने आती है । इस प्रकार राजनीति और व्यापार दोनों ही भाषा का मूल्य नष्ट कर रहे हैं । कूटनीति की भाषा हो जाने के कारण किसी शब्द या वाक्यांश का अर्थान्तरण भी होता हुआ दृष्टिगोचर होता है अर्थात् शब्द अपने प्रचलित अर्थ से भिन्न अर्थ में व्यंजित होता हुआ दृष्टिगोचर होता है । एक ही शब्द का व्यापारी एक तरह से अर्थ लगाता है, राजनीतिज्ञ दूसरे तरह से और एक साधारण व्यक्ति किसी और तरह से । राजनीतिज्ञ द्वारा प्रयुक्त `शान्ति` शब्द के पीछे युद्ध की विभीषिका छिपी रहती है ।` राजनीति के चक्कर में पड़कर शब्द अपना वास्तविक अर्थ खोते जा रहे हैं । राजनीति के क्षेत्र में जो कहा जाता है वह उसका अभिप्राय नहीं होता । राजनीतिज्ञ के मन में जो होता है वह उसकी भाषा से व्यक्त नहीं होता । इस प्रकार राजनीति के क्षेत्र में चारों ओर भाषा का अवमूल्यन दृष्टिगोचर होता है । हिन्दी का ही नहीं अन्य भाषाओं का भी यही हाल है । भाषा के अवमूल्यन की यह समस्या देशीय ही नहीं अन्तर्राष्ट्रीय है ।

हिन्दी का राजनीति शब्द अंग्रेजी के पालिटिक्स शब्द का पर्याय है । ग्रीक शब्द `पालिस` से `पालिटिक्स` की व्युत्पत्ति मानी जाती है । `पालिस` का अर्थ नगर, राज्य (city state) है और अरस्तू ने इस शब्द का प्रयोग किया । एथेन्स और स्पार्टा जैसे नगर राज्यों की प्रणाली का ही नाम `पालिटिक्स` पड़ा । अरस्तू के बाद से लेकर आज तक राजनीति शास्त्र का बहुत अधिक विकास हुआ है । यह विकास सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों रूपों में हुआ है और वहाँ राजनीतिशास्त्रवेत्ताओं ने अपने-अपने ढंग से राजनीति शास्त्र की परिभाषाएं प्रस्तुत की हैं जिन्हें विस्तार से जानने की यहाँ आवश्यकता नहीं है ।

एक सामान्य व्यक्ति या तो एक सामान्य नागरिक के रूप में अथवा सक्रिय कार्यकर्ता के रूप में राजनीति के सम्पर्क में आता है । नागरिक के रूप में

ही एक साहित्यकार राजनीति के प्रभाव एवं वातावरण से अलग नहीं रह सकता । भारत के प्राचीन इतिहास से भी यह सिद्ध हो जाता है कि भारतीय मनीषियों ने भी राजकुमारों तथा राजनीतिज्ञों को राजनीति की शिक्षा देने के लिए अनेक ग्रन्थों एवं आख्यायिकाओं की रचना की जैसे --चाणक्य कृत, `अर्थशास्त्र`, बृहस्पति कृत `अर्थशास्त्र` आचार्य उशनाह कृत `दण्डनीति` । जब से हमें मानव जाति का इतिहास उपलब्ध होता है तब से लेकर स्वतन्त्रता की प्राप्ति तक राजाओं एवं उनके राज्यों से सम्बन्धित गतिविधियों को ही राजनीति नाम दिया गया है । राज्य की राजनीति से ही उस राज्य की सभी प्रकार की व्यवस्थाओं का जन्म होता रहा है । औद्योगिक विकास, आर्थिक विकास, वैदेशिक सम्बन्ध, सामाजिक मूल्य आदि राजनीतिक परिस्थितियों पर ही निर्भर रहते हैं । उदाहरण के लिए, रूस की राजनीति को अनुसार वहां के जीवन-मूल्यों की स्थापना हुई है । वहां की आर्थिक व्यवस्था उत्पादन और वितरण के साधन सभी कुछ वहां की राजनीति के उतार-चढ़ाव पर आश्रित हैं । यही बात प्रकारान्तर से अमरीका, इंग्लैण्ड, फ्रान्स, इटली, चीन, भारतवर्ष आदि संसार के सभी बड़े-बड़े देशों के सम्बन्ध में कही जा सकती है । `किसी देश की सामाजिक समस्याएं ही कालान्तर में राजनीतिक समस्याएं बन जाती हैं । सम्प्रति सामाजिक मूल्यों की स्थापना भी राजनीति के माध्यम से की जाने लगी है । समाज-सुधारवादी आन्दोलन या आर्थिक और धार्मिक आन्दोलन नवीन मूल्य या नवीन मान्यताएं निर्धारित अवश्य करते हैं, किन्तु राजनीति की मुहर लगे बिना उन्हें कोई स्वीकार नहीं करता । उदाहरण के लिए, स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद के भारत में नारी- स्वातन्त्र्य, मद्य-निषेध, दहेज-प्रथा, बलात्कार, हिन्दू-मुस्लिम समस्या आदि समस्याएं मूलतः सामाजिक समस्याएं हैं, किन्तु उन्हें राजनीतिक समस्याएं बना दिया गया है । इसी प्रकार मजदूर-किसानों का उद्धार , खाना, कपड़ा और मकान जैसी आर्थिक समस्याएं भी राजनीतिक समस्याएं बन गई हैं । राजनीति और जीवन का यह अन्योन्याश्रित सम्बन्ध भारतीय इतिहास के प्राचीन काल से ही मिलता है । राम की

कथा से भी यदि भक्ति का आवरण हटा दिया जाय तो सारी कथा राजमहल की राजनीति के रूप में ही सामने आती है । कृष्ण भी एक चतुर राजनीतिज्ञ ही थे । भारतीय साहित्य के अधिकतर कवि राजाश्रित थे, इसलिए राजनीति से असम्पृक्त रहना उनके लिए असम्भव था । हिन्दी के आदिकालीन वीरगाथात्मक ग्रन्थ राजनीति से प्रभावित हैं । रीतिकालीन दरबारी कवि भी राजनीति से बहुत दूर नहीं थे । भूषण, लाल, सूदन, पद्माकर आदि कवि तत्कालीन राजनीतिक चेतना से प्रभावित हुए बिना नहीं रहे थे । ब्रिटिश साम्राज्यान्तर्गत भारत में भी साहित्यकार और कलाकार सभी राजनीति से अछूते नहीं रहे । आधुनिक हिन्दी साहित्य के जन्मदाता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (१८५० - १८८४) और उनके सहयोगियों ने राजनीति के प्रति अरुचि प्रकट नहीं की थी । 'निराला' की कुछ कविताओं में, उदाहरणार्थ, राजनीतिक चेतना व देशप्रेम की भावना मुखरित हुई है । शायद ही कोई ऐसा उपन्यासकार हो जिसकी रचना में राजनीति किसी - न - किसी रूप में न मिलती हो । कम्युनिस्ट विचारधारा से प्रभावित प्रगतिवादी साहित्यकार तो राजनीति से घनिष्ठ रूप में जुड़े हुए थे । स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद के साहित्यकार भी आपस की दलगत राजनीति और देश की व्यापक राजनीति से अछूते नहीं हैं । इस प्रकार पश्चिम में ही नहीं, भारतवर्ष में भी राजनीति और साहित्य में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध रहा है । यह कहना कि साहित्यकार को राजनीति से कोई सरोकार नहीं, ठीक नहीं है । यूरोप में जब फ़ासिज़्म (इटली) और नात्सिज़्म (जर्मनी) का उदय हुआ तो उनमें मानव जाति के लिए खतरा देखकर अनेक कलाकारों एवं साहित्यकारों ने उसका विरोध किया --शाब्दिक रूप में ही नहीं वरन् युद्ध क्षेत्र में जाकर भी । स्पेन का गृह-युद्ध और द्वितीय महायुद्ध का इतिहास इस बात के साक्षी हैं । साहित्यकारों और कलाकारों द्वारा विरोध व्यक्तियों का विरोध नहीं था, वरन् दूषित जीवन पद्धति, दूषित जीवन-मूल्यों का विरोध था । इतना अवश्य कहा जा सकता है कि राजनीति का सम्बन्ध वर्तमान स्थूल सत्य तक ही सीमित होता है । साहित्य प्रत्यक्ष के साथ सूक्ष्मता का आकलन करता है ।

हिन्दी उपन्यास साहित्य की परम्परा का वास्तविक आरम्भ कब हुआ, इस सम्बन्ध में विद्वानों में काफी मतभेद है । उसका सम्बन्ध कुछ लोग आधुनिक काल की परम्परा से बताते हैं, और कुछ प्राचीन साहित्य से जोड़ने का प्रयत्न करते हैं । किन्तु है वह आधुनिक काल की देन । भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के पश्चात् ही हिन्दी साहित्य में आधुनिक काल का प्रारम्भ होता है । १९ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही भारत की राजनीतिक एवं सामाजिक स्थिति में परिवर्तन होने लगा था । धार्मिक रुढ़ियां और परम्पराएं धीरे धीरे समाप्त हो रही थीं । गद्य का प्रसार अत्यन्त तेजी से हो रहा था । ऐतिहासिक घटना-चक्र के अनुसार १९ वीं शताब्दी के भारतवर्ष में एक नवीन युग की अवतारणा हुई ।[1] भारतवासियों का पश्चिम की एक सजीव और उन्नतिशील जाति के साथ सम्पर्क स्थापित हुआ । वह जाति अपने साथ यूरोपीय औद्योगिक क्रान्ति के बाद की सभ्यता लेकर आई थी । उसके द्वारा प्रचलित नवीन शिक्षा-पद्धति, वैज्ञानिक आविष्कारों और नवीन प्रवृत्तियों से हिन्दी साहित्य अछूता न रह सका । शासन-सम्बन्धी आवश्यकताओं तथा जीवन की नवीन साहित्यिक माध्यम की आवश्यकता हुई । हिन्दी में आधुनिकता लाने का कार्य गद्य ने ही किया, न कि काव्य ने । उस समय हिन्दी साहित्य मध्ययुगीन वातावरण से निकलकर नवीन वैज्ञानिक चेतना और अनुभव सीमाओं में प्रवेश कर सका । गद्य की शक्तिशाली विधा हिन्दी उपन्यास पर विदेशी उपन्यासों की परम्परा का यथेष्ट प्रभाव पड़ा । उसके स्वरूप निखरने में इसका महत्वपूर्ण योगदान रहा है । हिन्दी में प्रारम्भिक काल से ही विश्व के उच्चकोटि के उपन्यासों के अनुवाद हुए हैं, जिससे हमारे उपन्यासकारों को एक सर्वथा नवीन दिशा प्राप्त हुई ।

---

१. दे० डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : 'उन्नीसवीं शताब्दी (१९५२), प्रयाग ।

तो हिन्दी उपन्यास का जन्म उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में हुआ । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, लाला श्रीनिवासदास, बालकृष्ण भट्ट, राधाकृष्णदास, किशोरीलाल गोस्वामी, मेहता लज्जाराम शर्मा आदि ने उपन्यास-साहित्य को समृद्ध किया । पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान और वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप देश में जो नई बौद्धिक चेतना और बौद्धिक चेतना के फलस्वरूप विविध सुधार-वादी आन्दोलन उत्पन्न हुए उन्होंने तत्कालीन उपन्यासों का कलेवर सुसज्जित किया । इसका विस्तृत इतिहास न तो प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का विषय है और न उसकी आवश्यकता ही है, क्योंकि इस सम्बन्ध में काफी साहित्य उपलब्ध है और वह सर्वमान्य है ।[1]

---

१. मिश्रबन्धु : ‘विनोद’ चौथा खण्ड (१९२६ और उसके बाद के संस्करण,४ भाग)
रामचन्द्र शुक्ल : ‘हिन्दी साहित्य का इतिहास (१९२९)
श्यामसुन्दरदास : ‘हिन्दी भाषा और साहित्य’ (१९३०)
कृष्णशंकर शुक्ल : ‘आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास’ (१९३४)
डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : ‘आधुनिक हिन्दी साहित्य’ (१९४०)
,, : ‘हिन्दी उपन्यास : उपलब्धियाँ’ (१९७०)
,, : ‘द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास’ (१९७३)
डा० श्रीकृष्णलाल : ‘हिन्दी साहित्य’ (१९५२)
डा० भोलानाथ : ‘हिन्दी साहित्य’ (१९५४)
डा० त्रिभुवन सिंह : ‘हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद’ (१९५६)
समसामयिक हिन्दी साहित्य : साहित्य अकादमी, नईदिल्ली द्वारा प्रका०,
हिन्दी साहित्य, तीन खण्ड :भारतीय हिन्दी परि०,(१९७०)(१९५७)
हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास :नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रका० (आधुनिककाल से सम्बन्धित खण्ड)
शिवनारायण : ‘हिन्दी उपन्यास’ (?)
डा० सुरेश सिन्हा : ‘हिन्दी उपन्यास : उद्भव और विकास’ (१९६५)
डा० गोपाल राय : ‘हिन्दी उपन्यास कोश’ दो खण्ड(१९६८-१९६९)
डा० नगेन्द्र (संपादक) ‘हिन्दी साहित्य का इतिहास (१९७३)
डा० [illegible] गुप्त : ‘ऐतिहासिक उपन्यास’ (१९७७)
डा० [illegible] टण्डन : ‘हिन्दी उपन्यास : उद्भव और विकास’, आदि-आदि

उपन्यास का स्वरूप और भी अधिक स्पष्टता से समझने के लिए उपन्यास और मानव विश्लेषण, उपन्यास और निर्माण, उपन्यास और नाटक, कहानी और महाकाव्य से परस्पर सम्बन्ध तथा उपन्यास और समाज जैसे प्रश्नों पर भी संक्षेप में विचार कर लेना तर्कसंगत होता । किन्तु उसके सैद्धान्तिक पक्ष पर विचार करना हमारा उद्देश्य नहीं है । उसके लिए पृथक् विवेचन की आवश्यकता है । यहाँ इतना कहना यथेष्ट है कि मानव जीवन का विश्लेषण ही उसका प्रधान लक्ष्य है । इसके लिए अपूर्व औपन्यासिक कौशल की आवश्यकता होती है । इस प्रक्रिया में उपन्यास का दृष्टिकोण पूर्णतया प्रगतिशील होना चाहिए, उसमें सजग सामाजिक चेतना का होना आवश्यक है ।

उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध के उपन्यासों में समाज-सुधार, चारित्रिक दृढ़ता, पारिवारिक जीवन का चित्रण, नैतिकता आदि से सम्बन्धित आदर्शवादी दृष्टिकोण मिलता है । उनमें कहीं-न - कहीं प्रसंगवश राजनीतिक संकेत मिल जाते हैं (जैसे, राधाकृष्णदास कृत `निस्सहाय हिन्दू` में १८५७ के विद्रोह के सम्बन्ध में हिन्दू-मुस्लिम-सम्बन्धों की चर्चा) अन्यथा उस समय के उपन्यास-लेखकों ने अपने को सामाजिक, धार्मिक विषयों तक ही अधिक सीमित रखा । सम्भवतः १८५७ के बाद की सरकारी दमन-नीति इस प्रवृत्ति के पीछे रही हो । १८८५ में इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना हो जाने पर भी बहुत दिनों तक भारतवासियों की राजनीतिक चेतना खुलकर सामने न आ पाई थी । उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशाब्द में लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक के राजनीति में प्रवेश करने और फिर १९०५ बंग-भंग आन्दोलन के फलस्वरूप भारतवर्ष की राजनीतिक चेतना ने प्रत्यक्षतः उग्र रूप धारण करना प्रारम्भ किया । प्रथम महायुद्ध (१९१४ - १९१८) के बाद गाँधी जी के विविध सत्याग्रह आन्दोलनों के कारण राजनीति ने जीवन में प्रमुख स्थान ग्रहण किया और प्रेमचन्द जैसे उपन्यासकारों का आविर्भाव हुआ जिन्होंने अपनी औपन्यासिक कृतियों में राजनीतिक जीवन की अनिवार्यता को स्वीकार कर उसका चित्रण किया अथवा राजनीतिक संकेत दिए । यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना भी

आवश्यक है कि स्वतन्त्रता से पूर्व की राजनीति साम्राज्यवादी ब्रिटिश सरकार से मुठभेड़ की राजनीति थी, वह स्वतन्त्रता-संघर्ष की राजनीति थी जिसमें अंग्रेजों की कूटनीति, हिन्दू-मुस्लिम सांप्रदायिक समस्याएं, अंग्रेजों की भेद-नीति और राष्ट्रीय कर्णधारों की एकता स्थापित करने की चेष्टा आदि विविध पक्ष थे। स्वतन्त्रता के प्राप्ति के बाद की राजनीति या तो भारत की वैदेशिक नीति से सम्बन्धित अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति है, हिन्दी उपन्यासों में जिसका उल्लेख नगण्य है, या अपने देश की अन्तर्देशीय राजनीति है। कांग्रेस भी राष्ट्रीय आशाओं - आकांक्षाओं का वह प्रतीक नहीं रह गई जो स्वतन्त्रता से पूर्व थी और जिसके द्वारा प्रचलित स्वतन्त्रता संघर्ष स्वर्णाक्षरों में लिखा जाने योग्य है। उस समय देश के लगभग सभी प्रतिभाशाली महापुरुष ब सामने आए। गांधी, सरदार पटेल, जवाहरलाल नेहरू, सुभाषचन्द्र बोस, लाला लाजपतराय, खान अब्दुलग़फ्फार खाँ, जयप्रकाशनारायण, आचार्य नरेन्द्र-देव, डा० राजेन्द्रप्रसाद, चक्रवर्ती राजगोपालचारि, मौलाना आज़ाद आदि अनेक उच्च शिक्षा-प्राप्त और लब्धप्रतिष्ठ वकीलों, बैरिस्टरों, डाक्टरों, अध्यापकों ने स्वतन्त्रता -संग्राम में सक्रिय भाग लिया और अपने समृद्ध और वैभवपूर्ण हो सकने वाले जीवन को स्वतन्त्रता की बलिवेदी पर चढ़ा दिया। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर और श्रीमती ऐनी बेसेंट तथा अन्य अनेक विदेशियों की उस संघर्ष के प्रति पूर्ण सहानुभूति थी। कांग्रेस अब एक `पार्टी` के रूप में रह गई और आज के नेताओं को देखकर `अब के कवि खद्योत सम` की उक्ति याद आती है। संघर्षकालीन नेताओं और अब के नेताओं की कोई तुलना नहीं की जा सकती। ज़मीन आसमान का फ़र्क है। स्वतन्त्रता -काल में स्वतन्त्रता-पूर्व का आदर्श ही विलीन हो गया है। इसी विलीन हो गए आदर्श का अध्ययन आगे के अध्यायों में किया गया है।

अध्याय २

भारतीय राजनीतिक चेतना : विविध आयाम

आलोच्य विषय के सन्दर्भ में `राजनीति` शब्द का प्रयोग आधुनिक राजनीति के अर्थ में हुआ है और इसका सूत्रपात अंग्रेज़ी राज्यकालीन राजनीति से हुआ । अन्तिम मुगल सम्राट औरंगज़ेब की मृत्यु (१७०७ ई०) के बाद सम्पूर्ण भारत में राजनीतिक अराजकता और शैथिल्य व्याप्त हो गया था । यूरोप में औद्योगिक क्रान्ति (ईसा की १८ वीं शताब्दी उत्तरार्द्ध) के फलस्वरूप जीवन, और फलतः राजनीति, की गतिविधि तीव्रता के साथ बदल रही थी और अंग्रेज़ों, फ्रान्सीसियों, डचों और पुर्तगालियों ने अपनी - अपनी सत्ता का प्रचार-प्रसार करना प्रारम्भ कर दिया था । ये लोग भारतवर्ष भी आए और औरंगज़ेब के बाद के मुगल सम्राटों की कमज़ोरियों के कारण अपनी-अपनी राजसत्ता स्थापित की जिसमें अन्ततोगत्वा विजय अंग्रेज़ों की हुई ।[1] इस मार्ग पर

---

१. प्राचीन तथा आधुनिक भारतीय इतिहास के विस्तृत वर्णन और नवोत्थान की भावना और स्वतन्त्रता-आन्दोलन की देन के लिए दे० विंसेंट स्मिथ :
द ऑक्सफ़ोर्ड हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया`, ऑक्सफ़ोर्ड, केम्ब्रिज, १९२३
जेम्स मिल : `हिस्ट्री ऑफ़ ब्रिटिश इंडिया`, लंदन, १८१८
रैम्जे, मे० म्यूर : `मेकिंग ऑफ़ ब्रिटिश इंडिया, मैंचेस्टर, १९०४
एच०एच० रिज़्ले : `द पीपुल ऑफ़ इंडिया`, लंदन, १९१५
टाम्पसन एंड गैरेट : `राइज़ एंड फुलफ़िलमेंट ऑफ़ ब्रिटिश रूल इन इंडिया,
दो भाग, लंदन, १९३४
लार्ड रोनाल्डशे : `द हार्ट ऑफ़ आर्यावर्त`, लंदन, १९२५
आर०सी० मजूमदार : `एन एडवांस्ड हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया`, लन्दन, १९५२

(आगे जारी......)

प्रभुत्व स्थापित हो जाने के कारण अंग्रेज भारत की अन्य यूरोपीय सत्ताओं पर विजय प्राप्त कर सके । अंग्रेजों की इस सत्ता की स्थापना का इतिहास सर्व - विदित है । उसका विस्तारपूर्वक उल्लेख करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है । भगवतीचरण वर्मा की कहानी `मुगलों ने सल्तनत बख्श दी` में अंग्रेजों के राज्य-विस्तार का अत्यन्त कलात्मक ढंग से वर्णन हुआ है । अंग्रेजी राज्य के दृढ़ हो जाने के फलस्वरूप भारतवर्ष में अनेक प्रशासनिक, न्यायिक, आर्थिक, राजनीतिक परिवर्तन हुए । इसीलिए आधुनिक भारत के इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी महत्त्वपूर्ण शताब्दी है । इस शताब्दी में यह महत्वपूर्ण परिवर्तन ही नहीं हुए, वरन् भाषा और साहित्य के क्षेत्र में भी अभूतपूर्व परिवर्तन हुए । इस शताब्दी में ही खड़ीबोली गद्य का क्रमबद्ध इतिहास और साहित्यिक विकास मिलता है । साथ ही इस शताब्दी में गद्य की अनेक नवीन साहित्यिक विधाओं का जन्म हुआ और हिन्दी साहित्य राजदरबारों और केलि-कुंजों से निकल कर जन जीवन के सम्पर्क में आया और राजनीति भी उसका एक अंग बन गई ।

पिछले पृष्ठ का शेष :-

ए० यूसुफ अली : `ए मेकिंग ऑव इंडिया, लंदन, १९२५ ।

ए० यूसुफ अली : `ए कल्चरल हिस्ट्री ऑव इंडिया`, लन्दन, १९४० ।

एच० जी० वेल्स : `आउटलाइन्स ऑव हिस्ट्री` (१९२०), लंदन

ए० के० [illegible] : `आउटलाइन्स ऑव इंडियन कांस्टीट्यूशनल हिस्ट्री, १९२६,
लंदन ।

गुरुमुख निहाल सिंह : `ए कॉन्स्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑव इंडिया,

मोहनदास कर्मचन्द गाँधी : `आत्मकथा ` (१९०५)

जवाहरलाल नेहरू : `हिन्दुस्तान की कहानी `, १९४७, इलाहाबाद

,, : ` एन ऑटोबायोग्रेफी `, १९३६, लन्दन

पट्टाभि सीतारमैया : `कांग्रेस का इतिहास`, १९४८, दिल्ली

के०एम० मुंशी : ` पिलग्रिमेज टू फ्रीडम` (१९०२-१९५०), १९६७, बम्बई ।

उन्नीसवीं शताब्दी में उत्पन्न हुई इस चेतना को ही भारतीय नवोत्थान या नव जागरण कहते हैं। इस नवोत्थान या नवजागरण के पीछे ऐसी शक्तियाँ काम कर रही थीं जिन्होंने मध्ययुगीन पौराणिक जीवन-मूल्यों के स्थान पर आधुनिक वैज्ञानिक जीवन-मूल्यों के स्थान पर आधुनिक वैज्ञानिक जीवन मूल्यों का वपन किया। यह शक्तियाँ थीं --आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा और वैज्ञानिक आविष्कारों का प्रचार। भारत में अंग्रेजी राज्य स्थापित न हुआ था होता तो देश अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी की अराजकतापूर्ण परिस्थितियों और अन्धपरम्पराओं एवं अन्धविश्वासों से परिवेष्ठित जीवन से कैसे उबरता, यह तो कोई नहीं कह सकता। वह उबरता ज़रूर और अपने ढंग से उबरता। किन्तु इतिहास-विधाता ने इसे पश्चिम के सम्पर्क में लाकर उसकी दिशा निर्धारित कर दी। जिन शक्तियों का अभी-अभी उल्लेख किया गया है उन शक्तियों से प्रेरित होकर भारतवर्ष में बौद्धिक चेतना उत्पन्न हुई, आत्ममन्थन प्रारम्भ हुआ। यूरोप की उदारवादी राजनीतिक विचारधारा का प्रचार हुआ। अनेक सुधारवादी आन्दोलन प्रारम्भ हुए जिनके फलस्वरूप सती-प्रथा, बाल-विवाह, जन्म होते ही कन्या की हत्या आदि अनेक सामाजिक कुरीतियों एवं कुप्रथाओं पर नियन्त्रण लगा दिए गए। इस नवोत्थान एवं नवजागरण की एक विशेषता यह थी कि इसके फलस्वरूप जहाँ एक ओर पश्चिम के सम्पर्क के कारण एक नई चेतना उत्पन्न हुई, वहीं दूसरी ओर पूर्व और पश्चिम का संघर्ष भी प्रारम्भ हुआ और भारतवासियों को अपनी प्राचीन सभ्यता पर गर्व होने लगा और पराधीनता खटकने लगी। प्रेस की सहायता से प्राचीन साहित्य जन साधारण को सुलभ होने लगा जिसके फलस्वरूप भारतवासियों में आत्म-गौरव की भावना का उदय होना स्वाभाविक था।

इस प्रकार भारत के राजनीतिक और साहित्यिक एवं सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से उन्नीसवीं शताब्दी महत्वपूर्ण शताब्दी है। १८५७ ई० तक भारतवर्ष में राजनीतिक दृष्टि से ईस्ट इंडिया कम्पनी का प्रभुत्व स्थापित रहा

१७५७ ईसवी में प्लासी के युद्ध में लार्ड क्लाइव (१७४३ - ६७) की विजय के फल-स्वरूप जो राजनीतिक सत्ता स्थापित हुई थी उसकी पुष्टि लार्ड वेलेज़ली (१७९८-१८०५), लार्ड मिन्टो (१८०७- १८१३), हेस्टिंग्ज़ (१७७२ - ८५) , कार्न-वालिस (१७८६- ९३), लार्ड हेस्टिंग्ज़ (१८१४ - १८२३), लार्ड बैंटिंक (१८२८-१८३५) द्वारा हुई । उनके बाद लार्ड डलहौज़ी (१८४८ - ५६) ने सम्पूर्ण भारतवर्ष पर अंग्रेज़ी प्रभुत्व स्थापित कर दिया । ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन-काल में अंग्रेज़ों की दृष्टि मुख्यतः धनोपार्जन और धनोपार्जन के लिए शक्ति-संगठन करने में लगी रही । उस समय निरन्तर लड़ाइयों के फलस्वरूप देश की आर्थिक व्यवस्था शिथिल हो चुकी थी, किन्तु ईस्ट इंडिया कम्पनी को ज़रा भी ख्याल लगी । वह भारत का आर्थिक शोषण करने में लगी रही । इंग्लैण्ड के कल-कारखानों के लिए कच्चा माल ही उसने नहीं बटोरा, वरन् इंग्लैण्ड के बने माल की यहाँ खपत करने के कारण भी देश का धन विदेश जाने लगा । इस प्रकार भारत ईस्ट इंडिया कम्पनी के लिए व्यापार की एक विशाल मंडी मात्र बन कर रह गया । उस समय बनाए गए कानूनों के फलस्वरूप भारतीय किसानों की दुर्दशा के साथ नवाबों और ज़मींदारों की दुर्दशा हो गई । इसके अतिरिक्त ईस्ट-इंडिया कम्पनी का शासन-व्यय, ब्रिटिश अधिकारियों की पेन्शनें, सैनिक व्यय आदि का करोड़ों रुपया भारतीय राजकोष से दिया जाने लगा जिससे देश की आर्थिक दुरवस्था और निर्धनता दिन-पर-दिन बढ़ती ही गई । ईस्ट इंडिया कम्पनी की आर्थिक नीति के कारण स्थान-स्थान पर दुर्भिक्ष पड़ने लगे और राजनीतिक दृष्टि से अनेक देशी राज्यों का अस्तित्व मिटा गया ।

१७५७ - १८५७ ईस्वी के बीच ईस्ट इंडिया कम्पनी की आर्थिक और देशी राज्यों से सम्बन्धित नीति का अन्तिम परिणाम १८५७ के विद्रोह में हुआ । वैसे तो अंग्रेज़ी सत्ता के विरुद्ध पहले भी कई विद्रोह हो चुके थे, जैसे - १८०६ में दक्षिण में वेलोर का विद्रोह जिसमें वहाँ के लगभग सभी अंग्रेज़ मारे गए थे, किन्तु १८५७ के विद्रोह का महत्व दो प्रधान कारणों से है :-

१. यह विद्रोह का [illegible] पटना से पंजाब तक फैला हुआ था और उसमें सिपाहियों

ने भी भाग लिया था अर्थात् मुसलमानों ने भी अंग्रेजी राज्यों को दारुल-हरब घोषित कर उसे मिटा डालने की चेष्टा की । यह विद्रोह ईस्ट इंडिया कम्पनी की देशी राज्यों को हड़पने की नीति के विरुद्ध हुआ था । और उसमें सामन्तों ने विशेष रूप से भाग लिया जो भली भाँति संगठित न होने के कारण अन्त में पराजित हुए । इस विद्रोह को आजकल भारत का प्रथम स्वाधीनता-संग्राम कहा जाता है ।

२. विद्रोह शान्त हो जाने के पश्चात् भारतवर्ष का शासन ईस्ट- इंडिया कम्पनी के हाथ से निकलकर इंग्लैण्ड के मन्त्रि-मण्डल के हाथ में चला जाना । महारानी विक्टोरिया का घोषणा-पत्र भारतीय राजनीति के इतिहास में आधुनिकता का बीजारोपण करता है । यद्यपि अंग्रेजों ने पूरी शक्ति के साथ विद्रोह में भाग लेने वाले तत्वों का दमन किया जिसके लिए भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तक को यह कहना पड़ा :-

> 'कठिन सिपाही-द्रोह- अनल जा जल-बल नासी ।
> जिन भय सिर न हिलाइ सकत कहुँ भारतवासी ।।'[१]

विक्टोरिया के घोषणा-पत्र के बाद भारतवासियों ने कुछ दिनों के लिए राजनीति से एक प्रकार से सन्यास ग्रहण कर लिया और विक्टोरिया के घोषणा-पत्र के सन्दर्भ में उन्होंने सामाजिक और धार्मिक कार्यों की ओर अधिक ध्यान दिया । पाश्चात्य शिक्षा और रेल तथा अन्य वैज्ञानिक आविष्कारों के प्रचार के फलस्वरूप १८५७ के बाद भारतेन्दु युग में अनेक सुधारवादी आन्दोलन प्रचलित हुए । राजनीति में खुल्लमखुल्ला भाग न ले सकने पर भी नवोदित

---

१. 'विजयिनी-विजय-पताका वा वैजयन्ती' (१८८२)
भारतेन्दु ग्रन्थावली, द्वितीय भाग, ना०प्र०स०, पृ० ८०८ ।

पाश्चात्य शिक्षा-प्राप्त मध्यम वर्ग ने विनम्रतापूर्वक अंग्रेजों की राजनीति और आर्थिक नीति का विरोध किया । अंग्रेजों द्वारा काले-गोरे के भेद भाव, हिन्दू-मुसलमानों और देश के अन्य वर्गों में फूट डालने, हथियार छीन लेने आदि नीतियों का भारतीय मन और मस्तिष्क पर बुरा प्रभाव पड़ा और नवशिक्षित भारतवासियों ने उस राजनीतिक आन्दोलन को जन्म दिया जो संसार के राजनीतिक आन्दोलनों में विशिष्ट स्थान रखता है और जिसका प्रधान लक्ष्य राजनीतिक स्वाधीनता के साथ-साथ आत्म- स्वातन्त्र्य-प्राप्त करना था । बहुत से अंग्रेजों ने भी अपने देशवासियों को अनेक अनुचित कार्यों के लिए उत्तरदायी ठहराया, परन्तु फिर भी साम्राज्यवादी अंग्रेज प्रजा के हित के विरुद्ध अनेक असंतोषजनक कार्य करते रहे । भारतवासियों के हृदय में अंग्रेजों के अन्यायाचरण के प्रति गुप्त रूप से असंतोष बढ़ता चला गया.। कुछ दूरदर्शी अंग्रेजों ने भारतवासियों के हृदय में भड़कती हुई आग पहचानी ।

ऐसा ही एक अंग्रेज ए०ओ० ह्यूम था जिसने १८८५ में इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना की उसने ऐम्पायर का 'सेफ्टी वाल्व' कहा । 'सेफ्टीवाल्व' का काम ऐम्पायर को फट जाने से बचाने का है । इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना भी राजनीतिक चेतना प्राप्त नवोदित शिक्षित मध्यमवर्गीय भारतवासियों की राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं को प्रकाश में लाकर भारत में अंग्रेजी साम्राज्य को नष्ट होने से बचाना था । उसका उद्देश्य देश में सुलग रही क्रोधाग्नि की चिन्गारी पर राख डालना था । वैसे तो कुछ अंग्रेजों ने स्वामी दयानन्द सरस्वती (१८२४ - १८८३) के आर्य - समाज आन्दोलन (१८७५) को भी प्रच्छन्न रूप में राजनीतिक आन्दोलन ही कहा है, तो भी आर्य समाज आन्दोलन एक सांस्कृतिक आन्दोलन बन कर रह गया । यह अवश्य कहा जा सकता है कि आर्य समाज ने लोगों में राष्ट्रीय भावना उत्पन्न की और अनेक आर्यसमाजियों ने आगे चलकर कांग्रेस

के राजनीतिक आन्दोलनों में सक्रिय भाग लिया । इण्डियन नेशनल कांग्रेस ने प्रारम्भ में अंग्रेजी साम्राज्य के अन्तर्गत रहते हुए अंग्रेजों की भाँति ही समानता का व्यवहार चाहा । उस समय कांग्रेस की नीति याचना और प्रार्थना करने वाली नीति थी । महारानी विक्टोरिया के घोषणा-पत्र में प्रदत्त आश्वासनों की अवहेलना ने राजनीतिक हलचल का वातावरण उत्पन्न कर दिया था । इण्डियन नेशनल कांग्रेस के कर्णधारों के सामने राजनीतिक हलचल छिपी नहीं थी । बीच-बीच में राजनीतिक आन्दोलनों के ज्वार-भाटे आते रहे, किन्तु साम्राज्यवादी अंग्रेज शासकों की नीति ने उन्हें पनपने का अवसर नहीं दिया ।

भारत में १८५७ के विद्रोह के बाद जो राजनीतिक चेतना उत्पन्न हुई थी उसमें सर्वप्रथम लोकमान्य बाल गंगाधर (१८५६ - १९२०) का हाथ था ~~जिसने~~ जिन्होंने कांग्रेस की गतिविधि में उग्रता उत्पन्न की । तत्पश्चात् बंग-भंग आन्दोलन (१९०५) के रूप में राजनीति ने करवट बदली । भारत में आधुनिक राजनीति के जन्म की दृष्टि से १९ वीं शताब्दी के अन्तिम दशाब्द में बाल गंगाधर तिलक के उदय और १९०५ में बंग-भंग आन्दोलन ने भारतीय राजनीतिक चेतना को नया आयाम प्रदान किया । तिलक के नेतृत्व में भारतवासियों ने प्रथम बार स्वराज्य की उद्घोषणा की और भारतीय राजनीति में नरम दल के स्थान पर गरम दल का जन्म हुआ । गरम दल का उद्देश्य भारत की स्वतन्त्रता-प्राप्त करना था । स्वतन्त्रता-प्राप्ति का उद्देश्य केवल राजनीतिक या आर्थिक स्वतन्त्रता-प्राप्त करना नहीं था । उसका उद्देश्य स्वतन्त्रता के माध्यम से भारत का आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक सन्देश संसार के कोने-कोने में पहुँचाना था । बाल गंगाधर तिलक का दृष्टिकोण प्रमुखतः राजनीतिक था । उन्होंने राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं और अपने अनुगामियों की कोई टोली तैयार नहीं की थी, वैसी टोलियाँ आगे चलकर गोखले (१८६६-१९१५) और गांधी जी (१८६९ - १९४८) ने तैयार की थीं । यद्यपि

अपने व्यक्तिगत जीवन में तिलक अत्यन्त अनुशासित थे (माण्डले जेल के कारावास में उनका जीवन इस बात का प्रत्यक्ष उदाहरण है) और उनका दृष्टिकोण भी आदर्शपूर्ण था, किन्तु राजनीतिक जीवन में उन्होंने आदर्श, अध्यात्म और नैतिकता की आवश्यकता न समझी थी। वे राजनीति में व्यावहारिकता के समर्थक थे। गोखले और गांधी जी अनुशासन, आदर्श नैतिकता और अध्यात्म को सदैव महत्त्व देते थे। किन्तु तिलक का दृष्टि-कोण कुछ भिन्न था और यही भिन्न दृष्टिकोण व्यक्त करते हुए तिलक ने बड़ी निर्भीकता के साथ "स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है, मैं लेकर रहूँगा" का नारा लगाया था। तिलक के विचारों ने जनचेतना उत्पन्न करने में सहायता प्रदान की। उन्होंने गणेशोत्सव जैसे —सार्वजनिक राष्ट्रीय मेले को जन्म दिया। भारतीय राजनीति में यह जनचेतना एक ऐसा नया पक्ष था जिसने अंग्रेज शासकों को आतंकित कर दिया।

इसके साथ ही बंग-भंग आन्दोलन ने मातृपूजा, मातृप्रेम, आर्याभिमान आदि भावनाओं को जन्म दिया और राजनीति को धर्म का अंग मान लिया गया। देशोद्धार के लिए प्रतिज्ञाबद्ध नवयुवक प्राणोत्सर्ग के लिए उत्सुक हो गए। उनमें भ्रातृभाव, निर्भीकता, साहसिकता और अग्नितुल्य तेज का उदय हुआ। बंग-भंग आन्दोलन के फलस्वरूप उत्पन्न चेतना के कारण भारतवा-सियों में स्वदेशी के प्रति प्रेम और सांस्कृतिक निष्ठा उत्पन्न हुई। इस आन्दोलन से देश के गर्व की वृद्धि हुई। देश के इसी गर्व को हम जातीय भाव-सम्पन्नता कह सकते हैं। जो भारतवासी राष्ट्रीयता और एकता के अभाव से शून्य हो गए थे, वे राष्ट्रीयता के भावों से पूर्ण हो स्वाधीनता और संगठन के आदर्श की ओर बढ़े। उनकी अकर्मण्यता और आत्मविश्वासहीनता दूर हुई। १९०२ में जापान की विजय ने इस आत्मविश्वास की भावना को और दृढ़ किया। बंग-भंग आन्दोलन के फलस्वरूप स्वदेश-प्रेम की आधार-शिला मातृपूजा बनी। जिस दिन बंकिमचन्द्र के "वन्दे मातरम्" गान ने

बाह्य इन्द्रियों का अतिक्रमण कर हृदय के अन्दर प्रवेश किया उसी दिन भारतवासियों के हृदय में स्वदेश-प्रेम का प्रकाश फैला और माता के रूप में मातृभूमि की प्रतिष्ठा हुई। स्वदेश माता, स्वदेश भगवान की शिक्षा राष्ट्रीय अभ्युत्थान का बीजस्वरूप है। उस समय भारतवासियों का आश्रय-शक्ति स्वरूपिणी, बहुबलधारिणी, भारतजननी शक्ति का स्वरूप बनी। माता की मूर्ति मन और हृदय में जागृति उत्पन्न करने वाली शक्ति बनी। देश में यह भावना उत्पन्न हुई कि हम भारतवासियों को अपनी सनातन शक्ति का पुनरुत्थान करना है अर्थात् चरित्र, शिक्षा, ज्ञान, शक्ति द्वारा नवयुग के लिए शक्ति संचय करना और मातृभूमि का उद्धार करना है। तिलक ने और बंग-भंग आन्दोलन ने देश में एक ऐसी शक्ति का संचार किया जिसके बल पर बड़े-बड़े कार्य सम्भावित हो सकते थे, जिसने माता के प्रति आत्मसमर्पण कर अपने उद्देश्य की पूर्ति की तरफ प्रेरणा प्रदान की।

इस आन्दोलन ने यह स्पष्ट रूप से सिद्ध कर दिया कि भारतीयों की इस चेतना का उद्देश्य स्वाधीनता का था। किन्तु स्वाधीनता क्या है, इस सम्बन्ध में उस समय मतभेद था। कुछ लोगों का मत स्वायत्त शासन से था, कुछ का तात्पर्य औपनिवेशिक स्वराज्य से था और कुछ का प्रयोजन पूर्ण स्वराज्य से था। भारतवर्ष में 'स्वराज्य' का बहुत व्यापक अर्थ लगाया जाता रहा है। हमारे यहाँ सम्पूर्ण व्यावहारिक और आध्यात्मिक स्वाधीनता एवं उसके फलस्वरूप अखण्ड आनन्द को स्वराज्य कहा गया। राजनीतिक स्वाधीनता इस व्यापक स्वराज्य का एक अंश मात्र है। इस स्वाधीनता के दो अंग माने गए। बाह्य स्वाधीनता और आन्तरिक स्वाधीनता। विदेशी शासन से पूर्ण मुक्तिकामना बाह्य स्वाधीनता और ब्रह्मानन्द आन्तरिक स्वाधीनता का चरम विकास है। इसलिए बंग-भंग आन्दोलन के समय, साथ ही उससे पहले भी, विदेशियों के शासन और अन्य बन्धनों

सम्पूर्ण मुक्ति और स्वदेश में प्रजा का आधिपत्य भारत का राजनीतिक लक्ष्य बना। यह लक्ष्य आदर्शपूर्ण था। इस आदर्श के अनुसार अनेक जातियों के रहते हुए भी भारतवर्ष केवल एक देश माना गया। धार्मिक विचारों की एकता के अभाव में, साम्प्रदायिक विद्वेष के रहते हुए भी, यह आशा व्यक्त की गई कि एक दिन स्वदेशभूति धारिणी के प्रबल आकर्षण से साम्प्रदायिक विभिन्नता भ्रातृभाव तथा मातृप्रेम में समा जायगी और हृदय के परस्पर आबद्ध होने के पक्ष में जितने भी अभेद्य प्राचीर है उनका उल्लंघन करना सहज हो जायगा। भारत एक देश है, एक ही जीव है तथा सबके मन में एक ही चिन्ता का स्वरूप है। हमारे देश में चिरकाल से एकता स्थापित करने के लिए उत्कंठा रही है। किन्तु इस चेष्टा के मार्ग में ही अनेक बाधाएं थीं। देश का विस्तार और आने-जाने की कठिनाई तथा भाषा की विभिन्नता मुख्य बाधाएं थीं जिससे राजनीतिक चिन्तन प्रायः एक ही माता के सम्पूर्ण स्वरूप के दर्शन करने में सफल नहीं हो रहे थे। बंग-भंग आन्दोलन ने इस आदर्शपूर्ण राजनीतिक चेतना को जागृत अवश्य किया, किन्तु योगी अरविन्द घोष के शब्दों में "हम लोगों ने बंग विच्छेद के समय बंग माता के ही दर्शन किए थे, वह दर्शन अखण्ड दर्शन थे, अतएव बंग-भंग की भावी एकता और उन्नति अवश्यम्भावी है। किन्तु भारत माता की अखण्ड मूर्ति का इस समय भी प्रकाश नहीं हो रहा है।"

योगी अरविन्द घोष के इस दृष्टिकोण के बावजूद यह कहना असंगत न होगा कि बंग-भंग आन्दोलन ही वास्तविक रूप में स्वतन्त्रता आन्दोलन की आधार-शिला बना। यह मुख्यतः राजनीतिक आन्दोलन ही था - भले ही उग्र समय का दृष्टिकोण आदर्शवादी रहा हो। बंगाल विभाजन की प्रतिक्रिया स्वरूप होने वाले आन्दोलन स्वदेशी आन्दोलन, विदेशी माल का बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा तथा किसान आन्दोलन थे। इन आन्दोलनों के

साथ-साथ इण्डियन नेशनल कांग्रेस में क्रान्तिकारी विचार धारा का भी प्रवेश हुआ । कांग्रेस से बाहर आतंकवादियों ने जोर पकड़ा जिन्होंने अनेक गुप्त दल बनाए और बमों एवं गोली-बारूद में विश्वास प्रकट किया । जिस समय देश के राजनीतिक जीवन में उग्रवादी विचारों और आतंकवादियों का जोर बढ़ रहा था उसी समय १९१३ ई० के लगभग श्रीमती एनी बेसेन्ट (१८४७ - १९३३) ने होमरूल आन्दोलन शुरू किया जो १९१४ में प्रथम महायुद्ध के समय में बन्द हो गया । देश का यह दुर्भाग्य था कि प्रथम महायुद्ध का अन्त-होते-होते बाल गंगाधर तिलक का देहावसान हो गया ।

इसी समय दक्षिण अफ्रीका से वापिस आने पर महात्मा गांधी ने भारतीय राजनीति में प्रवेश किया । गांधी जी का भारतीय राजनीति में आना एक महान् ऐतिहासिक घटना है । उन्होंने जो असहयोग आन्दोलन, जिसे सत्याग्रह आन्दोलन भी कहते हैं, प्रारम्भ किया उससे देश के कोने-कोने में राजनीतिक चेतना उत्पन्न की । उन्होंने बाह्य स्थूल हिंसात्मक साधनों के स्थान पर सत्य और अहिंसा पर बल दिया । उनका सत्याग्रही अस्त्र-शस्त्रों से लैस न रहकर या शारीरिक दृष्टि से बलवान न होकर आत्मबल से पुष्ट था । उसमें प्रतिहिंसा, प्रतिशोध, रक्तपात की भावना के स्थान पर हृदय-परिवर्तन मुख्य साधन माना गया है । गांधी जी का अपना एक अपूर्व जीवन-दर्शन था जिसका सत्याग्रह एक अंग मात्र था । अपने कृशकाय शरीर को लेकर उन्होंने एक ऐसे साम्राज्य से मुठभेड़ ली जिस साम्राज्य में कभी सूर्य अस्त ही नहीं होता था । गांधी जी ने स्वदेशी वस्तुओं और कपड़ों के साथ-साथ खादी प्रचार द्वारा देश के गरीब किसानों की आर्थिक दुर्व्यवस्था दूर करने की चेष्टा की । उन्होंने राष्ट्रीय शिक्षा का प्रचार किया और अनेक विशाल आन्दोलनों को जन्म दिया जिनके उल्लेख करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है ।[1] उनके द्वारा प्रवर्तित १९२१ के बाद विविध सत्याग्रह आन्दोलन

---

१. के० ए० कृपानिधि जीवा रुमैना : "कांग्रेस का इतिहास", दिल्ली, १९५६

या नमक कानून-भंग आन्दोलन, डांडी-कूच, या उनका गोलमेज कान्फ्रेन्सों में भाग लेना, अन्त में 'भारत छोड़ो आन्दोलन' या 'करो या मरो' आन्दोलन (१९४२) तत्कालीन गांधी-युग की राजनीतिक गतिविधि की विभिन्न शाखा प्रशाखाएं हैं।

स्वतन्त्रता से पूर्व की राजनीति में अधिक विस्तार से न जाकर इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि प्रथम महायुद्ध के पश्चात् भारत में राजनीतिक आन्दोलन दिन-पर-दिन उग्र रूप धारण करता गया। महात्मा गांधी के व्यक्तित्व के फलस्वरूप यह आन्दोलन देशीय जीवन की जड़ों तक पहुंच गया जिसका एक परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक भारतवासी निर्भीक होकर सिर ऊपर उठाकर चलने लगा और स्वराज्य प्राप्ति के लिए प्राणों का उत्सर्ग करने के लिए भी प्रस्तुत हो गया। यह ठीक है कि बंग-विच्छेद के बाद राजनीतिक आन्दोलन में उग्रता आ गई थी और स्वदेशी आन्दोलन के फलस्वरूप शिक्षित वर्गमें भी चेतना उत्पन्न हो रही थी, तो भी प्रथम महा-युद्ध के पश्चात् राजनीतिक चेतना की परिधि निरन्तर व्यापक होती गई और वह शिक्षित वर्ग को पारकर अर्धशिक्षित और अशिक्षित वर्ग तक पहुंच गई। महात्मा गांधी ने जिस राजनीतिक चेतना को देश के कोने-कोने में फैलाया उससे एक आदर्शवादी-दृष्टिकोण पैदा हुआ, स्वराज्य मिलने पर 'राम-राज्य' की कल्पना की गई, नैतिक और चारित्रिक दृढ़ता की ओर ध्यान गया और जिस शक्ति के सामने भारतवासी भय के मारे सिर तक नहीं उठा सकते थे वे सीना तान कर चलने लगे। देश की इस राजनीतिक चेतना को इटली के मैजिनी, गैरीबाल्डी और आयरलैंड के राष्ट्रीय जीवन से प्रेरणा प्राप्त हुई।

१९३९ में द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हुआ और देश में भारत छोड़ो-आन्दोलन शुरू हुआ।[१] इस युद्ध में इटली, जर्मनी और जापान तथा उनके

---

१. दे० — 'हिन्दुस्तान टाइम्स', नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित 'इंडिया अनरिक-[illegible]' (१९[illegible])

मित्र-राष्ट्रों के साथ विजयी हुआ किन्तु युद्ध समाप्त होते-होते इंगलैण्ड की आर्थिक स्थिति बिल्कुल जर्जर हो गई और जिस समय लार्ड एटली इंगलैण्ड के प्रधान मंत्री थे उस समय स्टेफर्ड क्रिप्स मिशन के माध्यम से १९४७ में भारतवर्ष स्वतन्त्र हुआ । यह स्वतन्त्रता हमें समझौते के रूप में मिली और आकस्मिक ढंग से मिली । आकस्मिक ढंग से इसलिए कि जब स्वतन्त्रता मिली तो राष्ट्रीय संघर्ष के फलस्वरूप नहीं, त्याग और बलिदान के फलस्वरूप नहीं, वरन् इसलिए कि आर्थिक विपन्नता के कारण इंगलैण्ड अपने दूर तक फैले हुए साम्राज्य को सम्भालने में अपने को असमर्थ पा रहा था । उस समय देश के नेताओं ने अपने चिरपरिचित आदर्शों और सिद्धान्तों के साथ समझौता किया । चलते-चलते अंग्रेज अपनी भेदनीति या हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिक वैमनस्य को सिद्ध करते गए, क्योंकि देश का विभाजन किसी राष्ट्रीय आधार पर नहीं, हिन्दू-मुस्लिम जनसंख्या के आधार पर हुआ था । एक प्रकार से यह वही सिद्धान्त था जिसे लार्ड कर्जन (१९०५) ने बंग-विच्छेद के समय ग्रहण किया था । देश स्वतन्त्र तो हो गया, किन्तु उसके दो टुकड़े हो गए —भारत और पाकिस्तान । स्वतन्त्रता मिली तो वह बहुत महंगी पड़ी । अखण्ड भारत का सपना तिरोहित हो गया, देश खण्डित हो गया । जिस स्वतन्त्र और अखण्ड भारत की प्राप्ति के लिए देशवासियों ने अनुशासन तप, त्याग, बलिदान ग्रहण किया था, उन सबकी बलि चढ़ा देनी पड़ी और विभाजन के फलस्वरूप एकता की नींव हिल गई । पाकिस्तान में अब तो कोई साम्प्रदायिक समस्या नहीं रह गई, किन्तु भारत में वह अब भी विद्यमान है । गांधी जी का मूल मन्त्र अहिंसा था । किन्तु स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय विभाजन के फलस्वरूप हिंसा का जो अकाण्ड ताण्डव हुआ वह वर्णनातीत है । उस पीढ़ी के बचे हुए लोग ही उसका अनुभव कर सकते हैं । उस समय मालूम होता था कि इन्सान और इन्सानियत दोनों मर गए हैं ।

स्वतन्त्रता से पूर्व जो राजनीति का रूप था वह स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद न रह गया । स्वतन्त्रता से पूर्व राजनीति ब्रिटिश गवर्नमेंट कांग्रेस, मुस्लिम लीग, सामन्तवर्ग, पूंजीपति वर्ग, हरिजन वर्ग आदि के बीच कशमकश की थी । सबसे बड़ी विडम्बना यह थी कि जिस स्वतन्त्रता की प्राप्ति को हमने अपनी विजय मानी और १५ अगस्त १९४७ को दिल्ली में जो आलोक पर्व मनाया गया वह वास्तव में हमारी हार थी - हमारे सिद्धान्तों, हमारी अखण्डता और हमारी अहिंसा की हार थी । ऐसा प्रतीत होता था कि हमारे जीवन के कर्णधार संघर्ष करते-करते थक गए थे, शिथिल हो गए थे और कोई चारा न देखकर समझौता कर बैठे ।

इस प्रकार स्वतन्त्रता का सूर्य आत्मप्रवंचना और खण्डित आदर्शों से प्रारम्भ हुआ जिसका प्रभाव स्वातन्त्र्योत्तर जीवन पर गहरे रूप में पड़े बिना न रह सका । गांधी जी के 'राम-राज्य' का सपना तिरोहित हो गया । गांधी-युग के तप और त्याग को जैसे विराम मिल गया । स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए जिस बलिदान की आवश्यकता थी उस बलिदान की अब कोई आवश्यकता न रह गई । योगी अरविन्द के शब्दों में केवल बाह्य स्वाधीनता प्राप्त हुई, अन्तिम नहीं । आन्तरिक स्वाधीनता के लिए एकनिष्ठ साधना की आवश्यकता थी । किन्तु उसका कोई रूप सामने न था । समाजवादी जीवन पद्धति का नारा अवश्य लगाया गया, किन्तु वह नारा 'शब्द ब्रह्म' बनकर रह गया है । समाजवादी जीवन-पद्धति का कोई स्पष्ट चित्र न उभर पाया । जनता ने भी अपने उद्धार का सारा उत्तरदायित्व सरकार पर ही छोड़ दिया । राष्ट्र की शक्ति बिखर गई । व्यक्ति समाज से कटकर अपने तक ही सिमट कर रह गया । व्यक्ति में देश के व्यापक हित के स्थान पर स्वार्थपरता या स्वरति का जन्म हुआ वह आत्मकेन्द्रित हो उठा । देश में यह धारणा पैदा हुई कि आखिर प्रजातन्त्र का भारत के लिए क्या मूल्य है । क्या प्रजातन्त्र के फलस्वरूप

समाजकल्याण या जन-कल्याण के लिए कोई नए मूल्य स्थापित हुए या नहीं ? अथवा प्रजातन्त्र केवल एक नारा है जिसके फलस्वरूप सत्ता गिने चुने लोगों के हाथ में चली जाती है अथवा प्रजातन्त्र केवल भीड़ की राजनीति है ।

स्वतन्त्रता की प्राप्ति में शिक्षित मध्यम वर्ग का प्रधान हाथ था । दोनों युद्धों के बीच में मध्यमवर्ग ने सबसे अधिक राजनीतिक सक्रियता प्रकट की । नवीन शिक्षा के प्रसार, वाणिज्य व्यवसाय और उद्योग धन्धों के विकास के साथ-साथ मध्यम वर्ग का व्यक्तित्व उभरकर सामने आया । इस वर्ग को जीवन के साथ संघर्ष करना पड़ा और उसके जीवन में तरह-तरह की उलझनें आने लगीं । ज़माना भी इतनी तेज़ी से बदल रहा था कि उसे अपनी गति-शीलता बनाए रखना कठिन मालूम हो रहा था । इससे मध्यम वर्ग के जीवन में मधुरता और सरलता के स्थान पर जटिलता और शुष्कता बढ़ती गई ।

भारतीय जीवन की इसी परिस्थिति के बीच द्वितीय महायुद्ध (१९३९-१९४५) प्रारम्भ हुआ था । जर्मनी और इटली के तानाशाहों (क्रमशः हिटलर और मुसोलिनी) ने संसार की स्वतन्त्र कार्य-पद्धति, भाईचारा और विचार स्वातन्त्र्य का गला घोंटने की साहसिक चेष्टा की थी । द्वितीय महायुद्ध के फलस्वरूप भारत में स्वतन्त्रता प्राप्ति के उद्देश्य से कांग्रेस, मुस्लिम लीग और ब्रिटिश गवर्नमेंट के बीच राजनीतिक क्रियाशीलता बढ़ी । भारतीय नेताओं के सामने सबसे बड़ा प्रश्न यह था कि द्वितीय महायुद्ध में जर्मनी और इटली के तानाशाहों की महत्वाकांक्षाओं को देखते हुए ब्रिटिश गवर्नमेंट का समर्थन किया जाय अथवा न किया जाय । जर्मनी , इटली और जापान का समर्थन करने का मतलब होता फ़ासिज़्म का समर्थन करना जो मानव कल्याण और स्वातन्त्र्य के लिए अवांछनीय था । ब्रिटिश सरकार का समर्थन करने का अर्थ था भारत में ब्रिटिश साम्राज्य को सुदृढ़ बनाना । कांग्रेस प्रत्यक्षतः ब्रिटिश गवर्नमेंट का समर्थन कर रही थी, यद्यपि सुभाषचन्द्र बोस जैसे नेताओं

ने जर्मनी, इटली और जापान जैसी सामरिक शक्तियों के साथ मिल कर ब्रिटिश साम्राज्य को समाप्त कर देना चाहा था । उन्होंने इस उद्देश्य से प्रेरित होकर आज़ाद हिन्द फ़ौज का संगठन किया और दक्षिणपूर्व एशिया में आगे बढ़ती हुई जापानी फौजों के साथ मित्रता स्थापित की । दुर्भाग्यवश जापान जाते समय वायुयान की दुर्घटना के कारण सुभाषचन्द्र बोस का निधन हो गया और उनका अपना सपना पूरा न हो पाया । जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि युद्ध की समाप्ति के बाद क्रिप्स (सर स्टेफ़र्ड क्रिप्स) मिशन भारत आया और कांग्रेस, मुस्लिम लीग और क्रिप्स मिशन की त्रिकोणात्मक बातचीत और दौड़धूप के बाद भारतवर्ष का विभाजन हो गया । अखण्ड भारत खण्डित हो गया और एक नए राष्ट्र, पाकिस्तान का जन्म हुआ ।

द्वितीय महायुद्ध के फलस्वरूप भारत की राजनीतिक चेतना ने अन्तर्राष्ट्रीय चेतना का रूप ग्रहण कर लिया । बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में संसार में जहां एक राष्ट्र, एक भाषा के रूप में राजनीतिक-चेतना व्यक्त हुई, वहीं १९४५ - ४६ के बाद उसने एक दुनिया की आवाज उठाई । संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना और वेंडेल विल्की की पुस्तक `वन वर्ल्ड` के प्रकाशन के बाद इस स्वप्न के साकार होने की सम्भावना दृष्टिगोचर होने लगी । प्रथम महायुद्ध के बाद लीग आफ़ नेशन्स की स्थापना हुई थी, किन्तु उसका उद्देश्य पूर्ण न हुआ । संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना से मानव जाति की एकता, विश्व शान्ति की स्थापना सभी राष्ट्रों की स्वतन्त्रता के मार्ग खुलने की आशा बलवती हुई । संसार के अनेक देश, विशेष रूप से अफ़्रीका के देश : स्वतन्त्र हुए और उनमें प्रजातान्त्रिक प्रणाली प्रचलित हुई । जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों और आर्थिक विपन्नता के कारण अगस्त सन् १९४६ में ब्रिटेन की मज़दूर दल की सरकार ने १९४७ में भारत को पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी और एशिया में ही नहीं सारे संसार में भारतवर्ष सबसे बड़े प्रजातान्त्रिक देशों में गिना जाने लगा । स्वयं स्वतन्त्रता-

प्राप्त कर लेने पर भारतवर्ष ने संसार में सभी जगह स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्र का समर्थन किया । एशिया में चीन एक बहुत बड़ा राष्ट्र है, किन्तु कम्युनिस्ट शासन होने के कारण वहाँ प्रजातन्त्र के लिए विचार स्वातन्त्र्य के लिए कोई स्थान नहीं । एशिया में प्रजातान्त्रिक सफलता के लिए संसार की निगाहें भारतवर्ष पर पड़ीं । इसलिए स्वतन्त्र भारत का राजनीतिक महत्व बहुत अधिक हो गया । १९५० में भारत एक धर्मनिरपेक्ष स्वतन्त्र गणराज्य घोषित हुआ और १९५२ में संसार के सबसे बड़े राष्ट्र का बालिगमताधिकार के अनुसार शान्तिपूर्ण चुनाव सम्पन्न हुआ । इसका एक परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय क्रिया-प्रतिक्रिया के फलस्वरूप सांस्कृतिकतत्त्व मन्द पड़ गई और प्रजातन्त्र के अनुरूप देश में हल्ला-गुल्ला, शोर-शराबा मचने लगा विशेष रूप से भारत जैसे देश में जहाँ अशिक्षित और अर्द्धशिक्षित नागरिक ९५-९६ प्रतिशत के लगभग थे । स्वतन्त्रता सर्वतंत्र-स्वतन्त्र नहीं होती । उसमें आत्म-नियन्त्रण की आवश्यकता, होती है, अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के साथ दूसरों की भी स्वतन्त्रता का भी ध्यान रखना पड़ता है । भारतवर्ष में स्वतन्त्रता के बाद जितने चुनाव हुए हैं वे शान्तिपूर्ण ढंग से हुए अवश्य हैं, किन्तु इन चुनावों के फलस्वरूप देश के सार्वजनिक जीवन में अनेक बुराइयाँ उत्पन्न हो गई हैं । भारतवर्ष में मानव-सापेक्ष "अध्यात्म" के स्थान पर व्यावसायिकता, आत्मरति, स्वार्थपरता आदि का बाजार गर्म होता गया है ।

भारत स्वतन्त्र तो हुआ किन्तु एक तो इससे अंग्रेजों की (Divide and rule) नीति सफल हुई और दूसरे दुर्भाग्यवश स्वतन्त्रता की प्राप्ति के समय विभाजन के फलस्वरूप भीषण नरसंहार और ३० जनवरी, १९४८ को महात्मा गांधी की हत्या जैसी दुर्घटना हुई जिससे चारों ओर क्षोभ छा गया । स्वतन्त्रता-प्राप्ति करने के लिए देश को बड़ा भारी मूल्य चुकाना पड़ा । सुदूर स्थित साम्राज्यवादी विदेशी शासकों के फौलादी पंजे से मुक्ति प्राप्त करने का अर्थ था सामन्तवाद, साम्राज्यवाद आर्थिक और सामाजिक

शोषण से मुक्त करना । स्वतन्त्र-भारत का सर्वप्रथम उद्देश्य था पीड़ित जनता को दृष्टिपथ में रखते हुए कल्याण राज्य स्थापित करना और अंग्रेजों के शासन में देश में जो जीवन अवरुद्ध हो गया था उसे फिर से गतिशील और समृद्ध बनाना । अंग्रेजों के शासन-काल में देश की अधिकांश जनता का जीवन अन्धकार-पूर्ण था । सामन्तों और पूंजीवादियों की सहायता के कारण उनकी शोषण-नीति का घातक प्रभाव दृष्टिगोचर हुए बिना न रह सका । साम्राज्यवादियों की नीति के फलस्वरूप यह परिणाम हुआ कि अमीर ज्यादा अमीर होते गए और गरीब ज्यादा गरीब होते गए । शिक्षा स्वास्थ्य आदि की दृष्टि से भी भारत की अत्यन्त शोचनीय अवस्था थी ।

अत: १९४७ की स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद भारत को अपने भाग्य का स्वयं निर्माण करने का अवसर प्राप्त हुआ । किन्तु स्वतन्त्र-भारत में विभाजन के फलस्वरूप विस्थापित व्यक्तियों या शरणार्थियों के आवास, भोजन और जीविकोपार्जन के साधनों की व्यवस्था करना राष्ट्रीय सरकार के लिए बड़ी भारी कठिन समस्या थी । राष्ट्रीय जीवन धारा में उन्हें आत्मसात करने के लिए भारत सरकार को भागीरथ प्रयत्न करना पड़ा । विभाजन के द्वारा उत्पन्न परिस्थिति के अनुरूप दूसरी विकट समस्या ६०० से अधिक देशी रियासतों को भारतीय संघ में मिलाना और देश का राजनीतिक एकीकरण करना था । अंग्रेजों के समय में देश 'ब्रिटिश भारत' और 'देशी भारत' इन दो भागों में नाममात्र को बंटा हुआ था । कानूनन यह देशी रियासतें ब्रिटिश भारत के अन्तर्गत नहीं थीं । अनेक प्रकार की संधियों एवं पट्टे-परवानों द्वारा उनका ब्रिटिश सरकार के साथ सम्बन्ध जुड़ा हुआ था । किन्तु अंग्रेजों की इच्छा के बिना वहाँ तिनका भी नहीं हिल सकता था । राजा-महाराजा देश की जिन्दगी बिताते थे । राजनीति से उनका कोई

सम्बन्ध नहीं था । भारत जब स्वतन्त्र हुआ तो देशी राज्यों का भी ब्रिटिश शासन से सम्बन्ध समाप्त हो गया और उन्हें यह निर्णय लेने की छूट दी गई कि वे स्वतन्त्र भारत से अपने सम्बन्ध स्थापित करें या न करें । यदि देशी रियासतें स्वतन्त्र-भारत से सम्बन्ध स्थापित न करतीं तो भारत छोटे-छोटे टुकड़ों में बंट जाता और सामान्य रूप से उसकी आर्थिक प्रगति सम्भव न हो पाती । राजनीतिक और देश की सुरक्षा की दृष्टि से भी एक नाजुक परिस्थिति पैदा हो जाती । उन्हें भारतीय संघ में मिलाने के लिए उच्च कोटि की राजनीति और साहस तथा कौशल की आवश्यकता थी । इस राजनीतिक दूरदर्शिता का परिचय सरदार वल्लभभाई पटेल ने दिया। अपने राजनीतिक कौशल से उन्होंने देश की भौगोलिक और राजनीतिक एकता बनाए रखने में महान् ऐतिहासिक महत्त्व का काम किया । कश्मीर के सम्बन्ध में अवश्य डांवाडोल स्थिति पैदा हो गई थी जो जवाहरलाल नेहरू की अन्तर्राष्ट्रीय चेतना के फलस्वरूप और बिगड़ गई । कुल मिलाकर देशी रियासतों ने देशभक्ति का परिचय दिया और देश के एकीकरण में अपना सहयोग प्रदान किया । मार्च १९७१ के मध्यावधि चुनावों के बाद भारतीय संविधान में यथोचित संशोधन कर उन्हें हमेशा के लिए समाप्त कर दिया गया । इस प्रकार शताब्दियों से चली आ रही भारतीय सामन्तवादी व्यवस्था का अन्त हो गया और देशी राज्यों की जनता को भी देश की प्रगति के साथ आगे बढ़ने का स्वर्ण अवसर प्राप्त हुआ । जमींदारी उन्मूलन भी इसी प्रक्रिया का एक अंग था । सामन्तवादी व्यवस्था के अन्त हो जाने से भारत के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन पर प्रभाव पड़े बिना न रह सका क्योंकि देशी रियासतों ने अनेक कलाकारों, चित्रकारों, संगीतज्ञों, कवियों आदि को प्रश्रय दिया था । देशी रियासतों का अस्तित्व मिट जाने के कारण वहाँ सांस्कृतिक रिक्तता पैदा हो गई । सामन्तवादी प्रथा तो समाप्त हो गई, किन्तु दुर्भाग्यवश सामन्त-

वादी प्रवृत्ति का अन्त नहीं हुआ जो अब राजा-महाराजाओं के बजाय मंत्रियों और राजनीतिज्ञों में दृष्टिगोचर होती है ।

स्वतन्त्र-भारत को एकता के सूत्र में बांधने का सरदार वल्लभ भाई पटेल ने किया, तो देश की वैदेशिक या परराष्ट्र नीति का संचालन-सूत्र जवाहरलाल नेहरू ने अपने हाथ में ग्रहण किया । उनका विश्वास था कि स्वतन्त्र-भारत को अन्य राष्ट्रों से सम्पर्क बनाए रखते हुए अपनी स्वतन्त्र सत्ता का निर्वाह करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भाग लेना अत्यन्त आवश्यक है । स्वतन्त्रता की प्राप्ति से पहले ही वे अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधियों में रुचि रखते थे । द्वितीय महायुद्ध के बाद भारतवर्ष अनेक परतन्त्र राष्ट्रों के लिए प्रेरणा स्रोत बना । भारतवर्ष किसी सैनिक गुट का सदस्य बनना नहीं चाहता था । उसे अपनी वैदेशिक नीति के क्षेत्र में फूंक-फूंक कर कदम रखना था । अपनी सांस्कृतिक परम्परा के अनुसार भारतवर्ष ने `जिओ और जीने दो` में विश्वास प्रकट किया, मैत्री भाव, सहिष्णुता और अनेकता में एकता के प्रति आस्था रखी । वास्तव में दुनिया से अलग हटकर भारतवर्ष अपनी स्वतन्त्रता को सार्थक सिद्ध नहीं कर सकता था । जवाहरलाल नेहरू की वैदेशिक नीति का आधार पंचशील के सिद्धान्त, निर्दलीय अन्तर्राष्ट्रीय नीति और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व था । उनकी नीति का समर्थन भी हुआ और विरोध भी, किन्तु वे राजनीतिज्ञ, अतः राजनीतिक हथकंडों में विश्वास रखने वाले कूटनीतिज्ञ होने के बजाय एक आदर्श व्यक्ति अधिक थे । स्पष्ट है दोनों बातों का समन्वय करना उनके लिए कठिन था । राष्ट्रीय हित की भावना से प्रेरित दृष्टिकोण और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में समन्वय स्थापित करना कठिन कार्य अवश्य था, किन्तु भारत ने अपना राजनीतिक आदर्श बनाए रखा । यह आदर्शपूर्ण कल्पना लोक से यथार्थ की कठोरभूमि पर तब उस समय उतरा जब `हिन्दी-चीनी भाई-भाई` के नारे की आड़ में चीन ने १९६२ में भारत की उत्तरी सीमा पर एकाएक आक्रमण कर दिया । उधर कश्मीर में शेख अब्दुल्ला ने जवाहरलाल नेहरू को धोखा देने की चेष्टा की । नेहरू की

आँखें खुल गईं और उनका आदर्शवाद मिट्टी में मिल गया । इसी प्रकार नेहरू के बाद (१९६५) भारत-पाकिस्तान के युद्ध के फलस्वरूप हुए ताशकन्द समझौते से भी देश में उत्साह और उमंग की खुशी दृष्टिगोचर न हुई । स्वतन्त्र-भारत की कांग्रेस सरकार अपनी वैदेशिक नीति में कहाँ तक सफल हुई इसका निर्णय इतिहास आगे चलकर करेगा । वास्तव में नेहरू का कल्पना जगत् उनके जीवन काल में ही समाप्त हो गया था ।

१९४५ में द्वितीय महायुद्ध के समाप्त होने तक पुरानी लीग ऑफ् नेशन्स करीब करीब समाप्त हो चुकी थी और अमरीका तथा रूस ने परस्पर परामर्श के पश्चात् संयुक्त राष्ट्र संघ स्थापित करने का निर्णय लिया तो संसार के देशों को कुछ संतोष प्राप्त हुआ और उन्हें राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक आदि दुष्परिणामों से मुक्ति पाने की आशा प्राप्त हुई । किन्तु स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद अन्य राष्ट्रों के साथ सम्पर्क बनाए रखने और अपने को धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित करने पर भी भारत को अनेक राजनीतिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा और उसे कुछ देशों के साथ दुश्मनी भी मोल लेनी पड़ी । वास्तव में भारत के राष्ट्रीय हितों और अन्तर्राष्ट्रीय हितों के बीच कोई स्पष्ट रेखा खींचना दुष्कर कार्य था । भारत ने आज के वैज्ञानिक और तकनीकी युग में सभी देशों में परस्पर सौहार्द्र और सहयोग की भावना स्थापित करने की चेष्टा की ।

अस्तु, स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद राजनीतिक और आर्थिक एकसूत्रता स्थापित हो जाने पर और अपनी स्वतन्त्र वैदेशिक नीति का अनुसरण करने का निश्चय कर लेने पर देश में नए जीवन, नए स्पन्दन, साथ ही जटिलताएं-कुण्ठाएँ उत्पन्न होना स्वाभाविक था । इन सब का उत्तर मिला भारतीय संविधान में । जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों ने संविधान सभा में बैठकर १९४९ ई० के अन्त तक स्वतन्त्र भारत का संविधान प्रस्तुत किया और

२६ जनवरी १९५० ई० से उसे लागू कर दिया । यह दिन अब गणतन्त्र दिवस के रूप में मनाया जाता है । यह संविधान देश की एकता को ध्यान में रखते हुए निर्मित किया गया था । इस संविधान की विशेषता है – `कानून के सामने सब नागरिकों का बराबरी का दर्जा, अवसर की समानता, विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, संस्था व संघ बनाने की स्वतन्त्रता, समानाधिकार, हर प्रकार के भेदभाव से मुक्ति और स्वधर्म के पालन तथा प्रचार की स्वतन्त्रता, धर्मनिरपेक्षता आदि` । `फंडामेन्टल राइट्स` से सम्बन्धित उसका अंश और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है । इस संविधान की यह विशेषता है कि उसमें स्त्रियों और अछूतों को भी अन्य नागरिकों की भाँति अधिकार दिए गए हैं जिसके फलस्वरूप ये दोनों भी अपना-अपना अस्तित्व खोजने में सक्रिय हैं । सार्वजनिक जीवन के समस्त द्वार उनके लिए खोल दिए गए हैं । इससे देश के राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, नैतिक, सामाजिक जीवन पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सका ।` स्वतन्त्र भारत के संविधान में न तो जातिगत न रंगगत भेद है । छोटे-बड़े, स्त्री-पुरुष सभी के समान अधिकार उसमें सुरक्षित हैं । जन्म जाति, धर्म के आधार पर किसी भी व्यक्ति के अधिकारों की उपेक्षा नहीं की जा सकती ।

.... संविधान के अनुसार स्वतन्त्र-भारत धर्म-निरपेक्ष राज्य है, अर्थात् प्रत्येक नागरिक को अपनी इच्छानुसार धर्माचरण करने की स्वतन्त्रता है । `कम्पोजिट कल्चर` (मिलीजुली संस्कृति) पर उसमें बल दिया गया है । संक्षेप में, सिद्धान्ततः हमारा राज्य अब जनता द्वारा, जनता के लिए और जनता का राज्य है और कल्याण राज्य स्थापित करना उसका उद्देश्य है ।[1] संविधान बनने के बाद अनेक चुनाव वालिग मताधिकार के साथ हो चुके हैं और इन चुनावों के साथ-साथ राजनीतिक हलचलें सामने आई हैं । लोगों के दृष्टिकोण में, काम करने की प्रणाली में, सोचने के ढंग में परिवर्तन उपस्थित हुआ है और लोगों में निर्भीकता का संचार हुआ है ।

१, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० [illegible] ।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वतन्त्रता के बाद भारत की राजनीति में एक नया मोड़ आ जाना स्वाभाविक था । महात्मा-गांधी ने कहा था कि स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद इन्डियन नेशनल कांग्रेस को भंग कर देना चाहिए । किन्तु ऐसा न हो सका । कांग्रेस बराबर बहुमत से जीतती रही और देश के शासन की बागडोर अपने हाथ में लिए रही । प्रजातांत्रिक समाजवाद, गरीबी हटाओ, समाज के कमजोर वर्गों की सहायता पांच सूत्री या अब बीस सूत्री कार्यक्रम, परिवार नियोजन, उद्योग धन्धों का विकास, विभिन्न पंचवर्षीय योजनाएँ आदि उसका लक्ष्य बनी रही हैं । वास्तव में महात्मा गांधी ने पिछे या दबे लोगों को उबारने की जो बात कही थी वही स्वतन्त्र भारत का गुरु-गम्भीर उत्तरदायित्व है । शताब्दियों से मुगल और ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा शोषित इतने बड़े देश के नर-कंकालों को उबारने का भार सम्भालना राष्ट्रीय सरकार के लिए लोहे के चने चबाना था । कृषि, उद्योग-धन्धों के विकास और उत्पादन बढ़ाने के वैज्ञानिक साधनों के उपलब्ध कराने के संगठित प्रयास की ओर राष्ट्रीय सरकार का ध्यान रहा है और अपने उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए उसने अर्थशास्त्रियों, उद्योग-पतियों, किसानों एवं मजदूरों का सहयोग प्राप्त करने की निरन्तर चेष्टा की है ।

किन्तु इन सभी उच्च राष्ट्रीय उद्देश्यों के रहते हुए भी कांग्रेस पार्टी में, सत्तालोलुपता के कारण, और व्यक्तिगत स्वार्थपरता के कारण, व्यापक राष्ट्रीय दृष्टिकोण के अभाव के कारण भारत के इस प्रमुख राजनीतिक दल में परस्पर संघर्ष, फूट और कलह पैदा होना स्वाभाविक था । यही हुआ भी है । इण्डियन नेशनल कांग्रेस टुकड़ों - टुकड़ों में विभाजित हो गई है । कांग्रेस अब राजनीतिक पार्टी भी नहीं कही जा सकती । अब विभिन्न कांग्रेसी नेताओं की व्यक्तिगत पार्टियां हैं । मत वैभिन्य होते हुए भी, सत्ता-लोलुपता के फलस्वरूप परस्पर संघर्ष के रहते हुए भी कुछ नेताओं की टुकड़ियों में बंटी पार्टियां अपने को कांग्रेस पार्टियां कहती हैं । कुछ कांग्रेसी-

नेता कांग्रेस से बिल्कुल अलग हो गए हैं। उनकी अपनी-अपनी पार्टियां हैं, अपने-अपने झंडे हैं। कांग्रेस के अतिरिक्त देश में कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय जनता पार्टी, लोकदल, जनता पार्टी, द्रविड़-मुनेत्र कड़गम तथा अन्य अनेक छोटे-छोटे राजनीतिक दल हैं और इस समय भारत की राजनीति इन्हीं दलों की परस्पर राजनीति है। वे एक दूसरे को उखाड़ने-पछाड़ने में लगे रहते हैं। उन्होंने देश के सामने कोई चारित्रिक और नैतिक आदर्श नहीं रखा। फलतः देश के साधारण नागरिकों और सरकारी कर्मचारियों में चारित्रिक एवं नैतिक दृढ़ता दिखाई नहीं देती। आज देश में कोई ऐसा लोकनेता नहीं रह गया है जो देश के नागरिकों में चारित्रिक दृढ़ता उत्पन्न करने में सहायक हो सके।

स्वतन्त्रता-संग्राम के सेनानियों ने जो स्वप्न देखा था वह पूरा नहीं हो रहा है। इस समय देश में, प्रजातान्त्रिक शासन पद्धति के अनुरूप, दो दलों की राजनीति ही दृष्टिगोचर होती है --सत्तारूढ़ दल और विरोधी दल। स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद भारत में अनेक छोटे बड़े विरोधी दल हैं जिनमें वैचारिक मतभेद है और इतना अधिक मतभेद है कि वह सत्तारूढ़ दल के विरोध में संगठित नहीं हो पाते। १९७७ -१९८० में जनता पार्टी में विभिन्न दलों ने मिलकर केन्द्रीय सरकार का संगठन किया था। किन्तु स्वार्थ की हांडी चौराहे पर फूटी और जनता सरकार ने देश को निराशा प्रदान की। जनता गवर्नमेन्ट के प्रधान मंत्री मोरार जी देसाई को बहुत अधिक सफलता प्राप्त न हो सकी। वैसे सत्तारूढ़ दल के नेताओं अथवा विरोधी दल के सभी नेता आत्मकेन्द्रित हैं। वे संकीर्ण परिधि में ही विचरण करते हैं। उनके नकली मुखौटों से सभी परिचित हैं। समाजवाद और 'गरीबी हटाओ' जैसे खोखले नारे लगाये जाते हैं। जहाँ शिक्षा का अभाव हो, जनता में व्यक्ति-पूजा की प्रवृत्ति हो, ऊपर से नीचे तक भ्रष्टाचार हो, वहाँ प्रजातन्त्र या गणतन्त्र या कोई भी तन्त्र सफल नहीं हो सकता। जनसेवा की आड़ में नेता लोग

`ऐश` कर रहे हैं। सब अपने-अपने घर पर दीपक जलाना चाहते हैं, मस्जिद पर कोई दीपक नहीं जलाना चाहता। चारित्रिक दृढ़ता के अभाव में चारों ओर अव्यवस्था, अनुशासनहीनता, कार्य-कुशलता का अभाव आदि बातें दृष्टिगोचर हो रही हैं। गांधी जी की सभी नेता दुहाई देते हैं, किन्तु उनके उच्च आदर्शों पर चलना वे भूल गए हैं। गांधी जी की `ट्रस्टीशिप` की भावना और ग्राम्य-स्वराज्य के अभाव में देश में नौकरशाही का बोलबाला है।

इसलिए स्वातन्त्र्योत्तर युग राजनीति-प्रधान युग है। इस समय जीवन के अन्य पक्ष जैसे बिल्कुल दब गए हों। दुर्भाग्यवश स्वतन्त्र-भारत की राजनीति भ्रष्ट हो गई है। स्वतन्त्र-भारत की ~~राजनीति व स्थिति और~~ संविधान बनने की देर भी न हुई थी कि वह राजनीति के कुचक्र में पड़ गया। सरदार पटेल और जवाहरलाल नेहरू के समय में ही भीतर-भीतर षड्यन्त्र चल पड़े थे और देश के राजनीतिक प्रासाद में दरारें पड़ने लगी थीं। चीन (१९६२) और पाकिस्तान (१९६५, १९७१) के आक्रमणों के कारण देश में एकता की भावना दृढ़ होते अवश्य दिखाई दी, परन्तु ताशकन्द में लालबहादुर शास्त्री की मृत्यु (१९६६) के बाद देश का राजनैतिक जीवन फिर लड़खड़ाने लगा। कांग्रेस जैसी सुसंगठित पार्टी भी डगमगा गई। नैतिक और चारित्रिक दृढ़ता के स्थान पर कांग्रेस में अवसरवादिता, लोलुपता और धन-लोलुपता बढ़ी, उसमें भ्रष्टाचार घुस गया। कांग्रेसियों का सेवा-भाव लुप्त हो गया। नेता खरीदे जाने लगे और खरीदे जा रहे हैं। अब थैलियां राजनीतिक दलों की समस्याएं हल करने लगीं। राजनीतिक दल और पूंजीपति दोनों ही इस क्रय-विक्रय में लगे हुए हैं। इसलिए आज की राजनीति में चरित्रवान और आस्थावान व्यक्ति दृष्टिगोचर नहीं होते। राजनीति पेशा बन गई है जिससे देश को बड़ा भारी खतरा है। वामपंथी मार्क्सवादी हों या दक्षिणपंथी हों उन सबमें परस्पर कलह, फूट, प्रान्तीयता, जातिवाद, क्षेत्रवाद, भाषावाद, भाई-भतीजा-वाद, साम्प्रदायिकता आदि प्रवृत्तियां दृष्टिगोचर होती हैं। शिक्षण संस्थाएं राजनीतिक दलों के केन्द्र बन गए हैं, नेता छात्रों को अनुशासनहीन बना

रहे हैं और विभिन्न ट्रेड यूनियनों या अनेकानेक विभागीय यूनियनों द्वारा मिल-मजदूरों, किसानों विभिन्न कार्यालयों के कर्मचारियों में अनुशासनहीनता फैलाई जा रही है जिससे देश की शासन-व्यवस्था लड़खड़ा उठी है। देश में आसाम, और सम्प्रति पंजाब में, जो राजनीतिक विस्फोट हुए और हो रहे हैं उन्हें दबाने के लिए इन्दिरा सरकार कटिबद्ध है। १९६९, १९७४-७५, १९७७-७९ में उन्होंने जिस तरह देश में बढ़ती हुई हिंसात्मक कार्यवाहियों को संभाला वह उनकी दूरदर्शिता का प्रमाण है। आज १९८३-८४ में भी वे किसी तरह कमजोर नहीं हैं, किन्तु दुर्भाग्यवश इस समय राजनीति दिन-पर-दिन रक्त-रंजित होती जा रही है और रक्तपात तथा प्रतिशोध द्वारा आज की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक समस्याएं हल करने का प्रयास किया जा रहा है। आन्दोलन करने की जो पद्धति देश में अंग्रेज सरकार को हटाने के लिए अपनाई गई थी वही पद्धति आज स्वतन्त्र-भारत की राष्ट्रीय सरकार के लिए भी अपनाई जा रही है। परिणाम यह हो रहा है कि आज राजनीति में हिंसा का बोलबाला है, कानून की अवहेलना करने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है, प्रजातान्त्रिक राजनीति के स्थान पर भीड़ की राजनीति बढ़ती जा रही है। गांधी जी के सत्याग्रह में से 'सत्य' गायब हो गया है, केवल 'आग्रह' रह गया है। एक प्रकार से सारी राजनीति उलझी हुई है। आज के हिंसात्मक वातावरण के फलस्वरूप देश में रेल-दुर्घटनाएं हो रही हैं, गरीब लोग मारे जा रहे हैं, राजधानी और आमजनों के दैनिक जीवन में आतंक छाया हुआ है, दिन दहाड़े बैंक लूटी जा रही हैं, रेल तथा बस-यात्री लूटे जा रहे हैं, सार्वजनिक इमारतों में आग लगाई जा रही है। यह सब प्रजातान्त्रिक राजनीति तो नहीं है। प्रजातन्त्र में उच्चस्तरीय वाद-विवाद और विचार-विनिमय द्वारा समस्याओं का समाधान किया जाता है। किन्तु ऐसा होना उस समय तक सम्भव नहीं है जब तक सत्तारूढ़ दल और विरोधी दल केवल दलीय दृष्टिकोण से समस्याओं पर विचार न कर, कोरी दलगत राजनीति से ऊपर उठकर समस्याओं पर

विचार न करें तब तक देश के कल्याण की आशा करना व्यर्थ है । आज के हिंसात्मक विद्रोह और कार्यवाहियों के पीछे कोई क्रान्तिकारी भावना नहीं है । देश में यह धारणा फैली हुई है कि जो कार्य राजनीतिक वाद-विवाद या विचार-विनिमय से सम्पन्न नहीं हो सकता वह हिंसा द्वारा सम्पन्न हो सकता है । ऐसी ही धारणा के कारण आसाम और पंजाब में हिंसा का भीषण रूप दृष्टिगोचर हुआ है । देश की वर्तमान राजनीति ऐसी राजनीति है जिसने उसे जीवनयापन के लिए आवश्यक वस्तुओं से वंचित कर दिया है । यदि इस प्रकार की हिंसात्मक कार्यवाहियों को शीघ्र ही दबाया न गया और शासन के क्षेत्र में सुव्यवस्था को जन्म न दिया गया तो हो सकता है कि विभिन्न राज्यों की स्वतन्त्रता संकटापन्न हो जाय । विभिन्न राज्यों द्वारा अधिकाधिक स्वायत्तता की मांग भी आज की संकीर्ण दलीय राजनीति का ही परिणाम है । भारतीय इतिहास यह बताता है कि केन्द्र यदि शक्तिशाली नहीं रहेगा तो देश में जगह-जगह लोग सर उठाने लगेंगे और इस प्रकार प्राचीन या मध्ययुगीन परिस्थिति की पुनरावृत्ति हो जायगी । केन्द्रीय सरकार का भी यह कर्तव्य है कि वह सत्तारूढ़ हो जाने के बाद दल-गत राजनीति से ऊपर उठकर देश के व्यापक हित का चिन्तन करे । एक सामान्य नागरिक अपने दैनिक जीवन में थोड़ा बहुत स्थायित्व चाहता है । ल लेकिन आज की राजनीति में पड़कर वह कुछ समझ सकने में अपने को असमर्थ पा रहा है । उससे कहा जाता है कि यह असन्तोष विश्वव्यापी है । किन्तु वह पूछना चाहता है कि उसके सन्दर्भ में यह असन्तोषजनक स्थिति कहाँ तक ठीक है । राजनीतिज्ञों और सरकार को कानूनी व्यवस्था स्थापित करने के लिए कटिबद्ध होना चाहिए ।

इन सब बातों का उल्लेख करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है जो राजनीतिक संगठन, एकता, विकास और शान्ति के नाम पर होती रहती हैं ।

इस सम्बन्ध में १६७१ और उसके कुछ वर्ष बाद तक संविधान में किए गए परिवर्तनों से इस बात की ओर संकेत मिलता है कि आज की राजनीति ने प्रजातन्त्र को भी संकटापन्न बना दिया है । यह प्रवृत्ति 'डिक्टेटरशिप' या तानाशाही की ओर ले जाने वाली है । बढ़ती हुई जनसंख्या और तीव्र गति से हो रहे नगरीकरण ने दुष्कर्मों से पूर्ण राजनीति को और भी दुरूह बना दिया है । परतन्त्र-भारत में जनता के सामने एक आदर्श था, एक लक्ष्य था, अनुशासन था और एकता के सूत्र में बंधे रहने की प्रबल आकांक्षा थी, राजनीतिक जीवन में स्वच्छता थी, सेवा भाव था । किन्तु स्वतन्त्रता-प्राप्ति के तुरन्त बाद ही पुरानी पीढ़ी का आदर्श छिन्नभिन्न हो गया, देश के राजनीतिक जीवन में कोई अनुशासन न रह गया और देश के व्यापक हित के स्थान पर स्वार्थ एवं स्वरति का स्थान हो गया । वास्तव में स्वतन्त्रता-कालीन भारतीय जीवन की विचित्र स्थिति है । एक ओर तो स्वतन्त्रता की उपलब्धि के फलस्वरूप राष्ट्रीय जीवन के बड़े-बड़े सपने देखे गए हैं, और दिन रात सपने दिखाए जा रहे हैं, दूसरी ओर सब कुछ होते हुए भी जीवन में कुछ नहीं है । प्रजातन्त्र की दुहाई देते हुए राजनेता इसका दुरुपयोग कर रहे हैं । कोई भी नेता अपनी भूमिका ठीक तरह से नहीं निभा पा रहा है । फलतः आज की राजनीति का दबाव जितना भारतीय जीवन पर आज है उतना कभी नहीं था । आज के राजनीतिक परिवेश में एक व्यक्ति कुछ कर सकने में अपने को असमर्थ पाता है । यह ठीक है कि भारतवर्ष जैसे विशाल देश में ब्रिटिश शासन-काल में उतना परिवर्तन नहीं हुआ था जितना पिछले ३५-३६ वर्षों में हुआ है, लेकिन इसके साथ ही मानव-मूल्यों की अवमानना और आदर्शों एवं नैतिकता के ह्रास के बीच रहते हुए जीवन की विडम्बना भी सामान्य जन को आज की राजनीति के खतरे से परिचित कराती है । स्वतन्त्र-भारत की राजनीति में पेशेवर नेताओं, पूंजीपतियों, भूतपूर्व सामन्तों और विभिन्न दक्षिण एवं वामपंथी दलों ने तो सक्रिय भाग लिया ही है, किन्तु इसके साथ मध्यमवर्गीय नवयुवकों,

जिनमें से बहुत से बेकार मध्यमवर्गीय नवयुवक हैं, और गुण्डों ने भी सक्रिय भाग लिया है । नए धनाढ्य किसानों (रूस में जैसे कुलक थे) ने भी वर्तमान राजनीति की दिशा निर्धारित की है । नवयुवक अपनी दमित वासनाओं, कुण्ठित आशाओं-आकांक्षाओं को लिए हुए राजनीति में भाग ले रहे हैं । उनमें सर्जनात्मक दृष्टिकोण के स्थान पर ध्वंसात्मक प्रवृत्ति ही अधिक दृष्टिगोचर होती है । शिक्षा- संस्थाओं के नवयुवक विद्यार्थी भी पेशेवर नेताओं के संरक्षण में राजनीति में टांग अड़ाते रहते हैं । गुण्डे भी राजनीति में भाग लेकर अपना बचाव करते रहते हैं । यह सभी वर्ग हिंसात्मक उपायों से उद्देश्यपूर्ति में विश्वास रखते हैं । साधन से अधिक उनकी दृष्टि साध्य पर रहती है । स्वतन्त्रता से कुछ ही पहले की राजनीति की ओर संकेत करते हुए प्रसिद्ध उपन्यासकार यशपाल का 'देशद्रोही' में कहना है :- 'कांग्रेस के नए भारत छोड़ो आन्दोलन का भविष्य बम्बई अधिवेशन के निर्णय पर निर्भर था । उग्र कांग्रेसवादियों में आन्दोलन के वोवार की तैयारी आरम्भ हो रही थी । वैधानिकता के पक्षपाती मुस्लिम लीग के समझौते से कांग्रेस और लीग के सम्मिलित दलों के मन्त्रिमण्डल स्थापित कर राष्ट्रीय सरकार स्थापित करने की आशा कर रहे थे । कांग्रेस आन्दोलन में कूद पड़ने की पेशबन्दी कर रही थी, परन्तु चोटी के लीडर कांग्रेस के प्रतिनिधि महात्मा गांधी और वायसराय के मुलाकात के परिणाम की प्रतीक्षा में थे । शायद सरकार कांग्रेस की शक्ति और प्रभाव का विचार कर किसी रूप में उनकी मांगों को स्वीकार करने का आदेश दे दें ।'[१] इस राजनीति का प्रभाव भारत की राजनीति विशेषतः मध्यवर्ग पर पड़े बिना न रह सका और हिंसात्मक और षड्यन्त्रकारी राजनीति का जन्म हुआ । स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद

---

१. 'देशद्रोही', पृ० ३०६

की राजनीति वोट की राजनीति है । पेशेवर नेताओं की राजनीति मध्यमवर्गीय नवयुवकों और ऐसे लोगों को प्रश्रय देने की राजनीति है जो सही या गलत तरीके से अधिक-से-अधिक वोट डलवा सकते हैं । आज की राजनीति 'परमिट' प्रधान राजनीति है । राजनीति एक ऐसा धन्धा बन गया है जहाँ नेता बिकते हैं, विधायक बिकते हैं और वोट बिकते हैं तथा इस प्रकार १९४७ ई० के बाद की जनता की राजनीति अवश्य है किन्तु उसमें सभी प्रकार की भ्रष्टता घुस गई है । राजनीति के उद्देश्य की पूर्ति के लिए कोई भी साधन उपयुक्त समझा जाता है । सामान्य-जन आज की राजनीति से अत्यधिक पीड़ित हैं । स्थानीय सरकारी कर्मचारी भी राजनीति के दलदल में फंसे हुए हैं जिसके फलस्वरूप प्रशासन व्यवस्था भी भ्रष्ट होती जा रही है । जनता की सेवा करने के बजाय सरकारी कर्मचारी नेताओं के पीछे दौड़ने और येनकेन प्रकारेण अपनी पदोन्नति का प्रयास करने में लगे रहते हैं । आज की राजनीति में अच्छे लोग भी हैं, किन्तु वे अपवाद स्वरूप हैं । एक नेता क का यह कहना बहुत कुछ ठीक है कि अभी तक विधान सभाओं में ७५ प्रतिशत भले लोग हैं और २५ प्रतिशत अवांछनीय लोग । उस समय देश की राजनीति का क्या रूप होगा जब ७५ प्रतिशत अवांछनीय लोग रहेंगे और २५ प्रतिशत भले लोग । उसका केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है । वर्तमान राजनीति को देखते हुए यही कहा जा सकता है कि हमारा देश ईश्वर के बल पर ही चल रहा है । राजनीति अब गांधी-युग की राजनीति नहीं रह गई और नेताओं से सत्य उतना ही दूर है जितना पृथ्वी से आकाश ।

अध्याय — २

स्वतंत्रता-पूर्व वादमुक्त राजनीति

भारतीय राजनीतिक चेतना और हिन्दी उपन्यास के उद्भव और विकास में पर्याप्त समानता दिखाई देती है और आलोच्य विषय की दृष्टि से स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास - साहित्य स्थूल रूप से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है — १. जिन उपन्यासों में १८५७ से १९४७ या इसके आसपास तक की या स्वातन्त्र्य-पूर्व राजनीति के विविध सन्दर्भ मिलते हैं, और २. जिन उपन्यासों में स्वातन्त्र्योत्तर राजनीति का चित्रण मिलता है। ऐसा केवल अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से किया गया है। अन्यथा ऐसे उपन्यास भी मिलते हैं जिनमें स्वतन्त्रता-पूर्व और स्वतन्त्रता-प्राप्ति के सन्धि-काल या कुछ वर्ष बाद तक की राजनीति के सन्दर्भ मिलते हैं। एक काल का संक्रमण दूसरे काल में हो गया है। उनके बीच स्पष्ट विभाजन रेखा खींचना दुस्तर कार्य है। एक ऐसा उदाहरण भारत-विभाजन जैसी सन्धि-काल की घटना है। इसलिए जिस उपन्यास में विभाजनकाल की राजनीति की प्रमुखता है उसे स्वतन्त्रता-पूर्व के वर्ग में रखा गया है। जिस उपन्यास में विभाजन के साथ-साथ स्वातन्त्र्योत्तर राजनीति की प्रमुखता है उसे स्वातन्त्र्योत्तर वर्ग में रखा गया है। वैचारिक और सैद्धान्तिक दृष्टि से फिर इन उपन्यासों को दो वर्गों में रखा जा सकता है — १. वे उपन्यास जिनके लेखकों में वादमुक्त विशुद्ध राष्ट्रीय दृष्टिकोण मिलता है और जो अपना व्यक्तिगत दृष्टिकोण रखते हुए भी गांधीवाद (साम्प्रदायिक रूप में नहीं) से थोड़ा-बहुत प्रभावित हुए हैं और जिन्होंने त्याग, बलिदान, संयम, नि:स्वार्थ सेवा का आदर्श उपस्थित किया है —हो सकता है स्वातंत्र्योत्तर स्वार्थपूर्ण और

दलगत राजनीति की तुलना में उन्होंने स्वतन्त्रता -पूर्व आदर्शपूर्ण राजनीति की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहा है और २. वे उपन्यास जिनके लेखकों में एक विशेष सैद्धान्तिक आग्रह मिलता है और जो गांधी युग के आदर्शों के प्रति आस्था न रख अपने पात्रों को अपने वैचारिक स्तर पर आधारित कर चित्रित करते हैं । प्रथम वर्ग के लेखकों को हम कट्टर गांधीवादी तो नहीं कह सकते, किन्तु उन्होंने गांधी जी के आदर्शों के प्रति रूचि प्रकट की है और भारत की स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए वही सच्चा रास्ता बताया है । दूसरे वर्ग के लेखकों को वामपंथी कहा जा सकता है । उनके उपन्यासों में साम्यवादी सिद्धान्तों का या इन सिद्धान्तों का आभास मात्र ग्रहण किया गया है । ये लेखक गांधीजी द्वारा बताया गया मार्ग अंग्रेजों को देश से बाहर निकाल देने के लिए सफलता की ओर ले जाने वाला मार्ग नहीं समझते ।

स्वातंत्र्योत्तर कालीन उपन्यासों में उल्लिखित स्वतन्त्रता - पूर्व राजनीतिक घटनाओं को दृष्टिपथ में रखते हुए उनकी राजनीतिक पीठिका का इस प्रकार उल्लेख किया जा सकता है ।

अन्तिम मुगल सम्राट औरंगजेब की मृत्यु (१७०७) के बाद सम्पूर्ण भारत में राजनीतिक अराजकता और शैथिल्य व्याप्त हो गया था । यूरोप के पूंजीपति विश्व में नई मंडियों की तलाश कर रहे थे । वास्को-डि गामा आशा अन्तरीप का चक्कर लगाता हुआ भारत आ पहुंचा । उसका अनुसरण डच, पुर्तगालियों तथा अंग्रेजों ने किया । ये लोग व्यापार करने के लिए भारत आए थे । इन सौदागरों में अंग्रेजों ने भारतीय राजनीतिक परिस्थितियों से पूर्ण लाभ उठाया । अपनी राजनीतिक सूझ का लाभ उठाकर उन्होंने सौदागरवाद को उपनिवेशवादी साम्राज्यवाद में परिणत कर दिया । भारत पराधीनता के पाश में बद्ध होकर ब्रिटिश-उपनिवेश बन कर रह गया और ईस्ट इंडिया कम्पनी (१७५७ - १८५७) भारत की

भाग्य-विधाता बन गई । परिणाम यह हुआ कि भारत विदेशियों के उपनिवेशवाद की नीति का शिकार बन गया जिसके कारण सभी भारतीय परम्परागत उद्योग-धन्धे नष्ट हो गये । आर्थिक शोषण से पीड़ित भारतीय जनता रोज़ी-रोटी के लिए तरस उठी । विभिन्न करों के भार से उसकी कमर टूट गई । देश का धन इंग्लैण्ड के खजानों में जमा होने लगा । धार्मिक और सामाजिक रूढ़ियों, अंध-विश्वासों से ऊपर उठने का देश का साहस पहले ही दम तोड़ चुका था । उसके आगे घोर अन्धकार छा गया । अंग्रेजों ने शीघ्र ही अटक से कटक तक तथा कश्मीर से कन्या-कुमारी तक अपने राज्य की सीमाओं का विस्तार कर लिया जिसके फलस्वरूप अनेक नयी प्रशासनिक आवश्यकताओं का जन्म हुआ । अपनी प्रशासकीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासकों ने भारत में अनेक नए उद्योग-धन्धों की स्थापना प्रारम्भ की । कच्चे माल की सुलभता के लिए विभिन्न मंडियों एवं बाजारों को आपस में सम्बद्ध किया जिसके फलस्वरूप यातायात के साधनों, डाक तथा तार इत्यादि संचार साधनों का प्रसार द्रुत गति से हुआ । देश का प्रशासन चलाने के लिए कुशल-शिक्षित कर्मचारियों की आवश्यकता भी उनके सामने थी जिसकी पूर्ति के लिए देश में नवीन पाश्चात्य शिक्षा की व्यवस्था की गई तथा नवीन शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना हुई । सम्पूर्ण भारत एक प्रशासकीय इकाई के रूप में दृष्टिगोचर हुआ । नवीन शिक्षा, पुरातत्त्व विभाग की खोजों और भारत के प्राचीन गरिमापूर्ण इतिहास ने भारतीय शिक्षित वर्ग में पुनर्जागरण की भावना का प्रादुर्भाव किया ।

पाश्चात्य शिक्षा के परिणामस्वरूप भारतीय बौद्धिक वर्ग का संगठन और नव जागरण या नवोत्थान सम्भव हुआ । उसमें एक नवचेतना प्रस्फुटित हुई । उसके राष्ट्रीय स्वाभिमान ने करवट ली । विश्व में चल रहे जन-आन्दोलनों का प्रभाव भी उस पर पड़ने लगा । राजा राममोहन राय (१७७२ - १८३३) (१७७४-१८५३) की विदेश-यात्रा ने उनके वहां के निजी अनुभवों ने, भारतीय पुनर्जागरण को प्रोत्साहन प्रदान कर देशवासियों को राष्ट्रीयता का एक नया पंथ प्रदान किया और देशवासियों को सामाजिक तथा धार्मिक रूढ़िवाद से मुक्त करने के लिए सामाजिक सुधार आन्दोलन का सूत्रपात कर ब्रह्म समाज (१८२८)

की स्थापना की । दयानन्द सरस्वती (१८२४ - १८८३) ने `आर्यसमाज`
(१८७५) की स्थापना कर भारतीय जनता को एक नवीन संजीविनी शक्ति
प्रदान की । उन्होंने भी सामाजिक रूढ़ियों का विरोध कर `वेदों की ओर लौट
चलो` का नारा देकर राष्ट्रीय क्रान्ति के बीज का वपन किया । इससे भी
भारतीय राष्ट्रवाद की भावना बलवती हुई और सामाजिक सुधार- आन्दोलनों
और राजनीतिक चेतना का जन्म सम्भव हुआ । स्वामी विवेकानन्द (१८६२-
१९०२) ने हिन्दू-धर्म की नवीन व्याख्या प्रस्तुत की । उन्होंने मानव का
मानव के प्रति सच्चा प्रेम ही सबसे बड़ा धर्म बतलाया । उन्होंने भारतीयों को
उनकी प्राचीन गौरवपूर्ण विरासत का स्मरण कराया । उन्होंने `उत्तिष्ठ,
उत्तिष्ठ` का मंत्र दिया । थियोसोफिकल सोसाइटी` (न्यूयार्क में १८७३,
भारत १८७५) ने भी प्रसुप्त भारतीय चेतना को जगाया । एनी बेसेंट (१८४७-
१९३३) के नेतृत्व में सामाजिक तथा राजनीतिक क्रान्ति का शुभारम्भ हुआ ।
सर सैयद अहमद खाँ ने मुस्लिम समाज को जाग्रत किया । उसके लिए उन्होंने
शिक्षा के नए आयाम प्रस्तुत किए ।

देशी रियासतों को अंग्रेजी राज्य में मिला देने की नीति के फलस्वरूप
१८५७ के विद्रोह के उपरान्त महारानी विक्टोरिया की घोषणा में प्रदत्त
आश्वासनों की बार-बार अवहेलना ने एक राजनीतिक बेचैनी का सूत्रपात प्रारम्भ
कर दिया था जो समाज के भीतर-ही-भीतर पैदा हो रही थी जिसे `हिन्दू-
मेला`, `कलकत्ता एसोसियेशन`, `इंडियन एसोसियेशन` आदि का परोक्ष
आशीर्वाद प्राप्त था । `इण्डियन एसोसियेशन` का कुशल नेतृत्व सुरेन्द्रनाथ बनर्जी
के हाथ में था जिसे उन्होंने अखिल भारतीय रूप प्रदान किया । ब्रिटिश प्रशासन
की इन विकासमान राजनीतिक हलचलों से आँखें मुँदी हुई नहीं थीं । इसी-
लिए कुशल राजनीतिज्ञ कभी राजनीतिक चेतना को तीव्र नहीं होने देना
चाहते थे । अतः ए०ओ०ह्यूम ने सन् १८८५ में इण्डियन नेशनल कांग्रेस की

स्थापना की । यह कांग्रेस 'गॉड सेव दि किंग' की प्रशस्ति से प्रारम्भ अधिवेशनों को बीसवीं शताब्दी के लगभग द्वितीय दशाब्द तक आयोजित करती रही । बीच बीच में उग्र राजनीतिक आन्दोलन का भी ज्वार आता रहा, परन्तु वह विभिन्न कारणों से भाटा के रूप में परिणत हो गया । क्रान्तिकारी आन्दोलन का आतंकवादी रूप, मुस्लिम लीग की स्थापना १९०८ , लोकमान्य तिलक (१८५६- १९२०) का लम्बा कारावास आदि अनेक कारण इसके पीछे थे । बंग-भंग (१९०५) के कारण स्वदेशी आन्दोलन ने एक नए राजनीतिक वातावरण की सृष्टि की । राजनीतिक मंच से प्रथम बार 'स्वराज्य' की उद्घोषणा की गई । देश में जो नरम पंथी राजभक्तिपरक आन्दोलन चल रहा था उससे भारतीय नवयुवक वर्ग सन्तुष्ट न था । वह क्रान्ति द्वारा देश को स्वाधीन कराना चाहता था । अंग्रेजों ने एक और तो १९०९ में, मिन्टो-मोर्ले रिफार्म्स और १९१९ में मांटेग्यु-चेम्सफर्ड रिफार्म्स (जो भारतवासियों की राजनीतिक आकांक्षाओं को सन्तुष्ट न कर सके) प्रस्तुत किए, तो दूसरी ओर, उभरते हुए राष्ट्रीय आन्दोलन को नष्ट करने के लिए एक काला कानून रॉलेट ऐक्ट (१९१९) बनाया । इस ऐक्ट के विरोध में जलियांवाला बाग जैसी लोमहर्षक घटना घटित हुई ।

आचार्य नरेन्द्रदेव ने अपनी पुस्तक 'राष्ट्रीयता और समाजवाद' में बताया है कि १८८५ में कांग्रेस की स्थापना से लेकर १९०५ ई० तक की राजनीति जनता तक नहीं पहुंच पाई थी । जनता उसे समझती ही न थी । दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह आन्दोलन की सफलता के बाद मोहनदास करमचन्द गांधी (१८६९ - १९४८) १९१४ में भारत वापस आए । उन्होंने प्रथम महासमर में ब्रिटिश सरकार का पूर्ण समर्थन किया । परन्तु थोड़े ही समय बाद रॉलेट ऐक्ट जैसे प्रतिगामी कानून का विरोध करने के लिए एक आन्दोलन की योजना तैयार की । उनके नेतृत्व में भारतीय स्वतन्त्रता -संघर्ष ने एक नए युग में प्रवेश किया । १९२१-२४ में उनके अहिंसात्मक, असहयोग सत्याग्रह आन्दोलन ने भारतीय राष्ट्रीय चेतना को चार चांद लगा दिया । परन्तु 'फूट डालो और राज्य करो' की ब्रिटिश कूटनीति ने अहिंसात्मक सत्याग्रह को हिंसा -

त्मक रूप में परिणत कर दिया । अहिंसा के पुजारी महात्मा गांधी ने चौरी-चौरा आदि की अहिंसात्मक घटनाओं से विवश होकर मानव के मनुजत्व के जागरणार्थ रचनात्मक कार्यक्रम हाथ में लिया जिसमें हिन्दू-मुस्लिम एकता, अछूतोद्धार, मद्यनिषेध, चर्खा और खादी के अतिरिक्त नारी-जागरण, कृषकोत्थान, ग्रामोद्धार आदि अनेक कार्य सम्मिलित थे । रचनात्मक कार्य-क्रम का मुख्य उद्देश्य सामाजिक जागरण के माध्यम से जनता को स्वतन्त्रता-संघर्ष के लिए तैयार करना था ।

महात्मा गांधी के अहिंसात्मक सत्याग्रह के अतिरिक्त शासन को उखाड़ने के लिए १९३६ के आसपास से साम्यवादी तरीकों द्वारा देश को स्वतन्त्र कराने का प्रयत्न भी होने लगा । कालान्तर में साम्यवाद या समाजवाद का इतना व्यापक प्रचार भारत में हुआ कि उससे विदेशी सरकार परेशान हो उठी । द्वितीय महायुद्ध (१९३९ - १९४५) के समय १९४२ की क्रान्ति और `भारत छोड़ो` तथा `करो या मरो` ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद की नींद हिला दी और अन्त में १५ अगस्त १९४७ को भारत परतंत्रता की कारा से मुक्त हो गया । परन्तु मुस्लिम लीग (१९०८) की हठवादिता के कारण राष्ट्रीय-मुक्ति-संग्राम में गतिरोध आ गया था । भारत-विभाजन के रूप में उस गतिरोध का अन्त हुआ । आजन्म हिन्दू-मुस्लिम एकता के कट्टर समर्थक गांधी जी को साम्प्रदायिकता के कारण अपना आत्मोत्सर्ग करना पड़ा (३० जनवरी, १९४८) ।

देश को पराधीनता के पाश से उन्मुक्त करने के लिए साहित्यकार पीछे नहीं रहे । उन्होंने अपनी लेखनी के माध्यम से जन-जन के हृदय में `स्वराज्य` की भावना प्रज्वलित की । साहित्य की अन्य विधाओं के समान ही हिन्दी उपन्यास भी इस क्षेत्र में पीछे न रहा । युगीन आन्दोलन का विशेष प्रभाव उस पर पड़ा । युगीन राजनीति के रंग में रंगकर वह सामने आया । परन्तु ऐसा गांधी-युग में ही सम्भव हुआ । यदि प्राक्-गांधी-युगीन

राजनीति का विश्लेषण हिन्दी उपन्यास के परिप्रेक्ष्य में किया जाय तो यह स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि उस युग के उपन्यासकारों ने राजनीति को अपनाने की अपेक्षा सामाजिक सुधार-आन्दोलनों को अपनी रचना का विषय अधिक बनाया । यही कारण है कि प्राक्-गांधी-युगीन उपन्यासों में स्वातन्त्र्य-संघर्ष का चित्रण एक प्रकार से नगण्य है । (१८८६-१९३६) तथा उनके समकालीन अन्य उपन्यास-लेखकों ने राष्ट्रीय समस्याओं को उपन्यास साहित्य में स्थान देकर उपन्यास को विकास यात्रा को एक नए मोड़ की ओर अग्रसर किया और उपन्यास-साहित्य और राष्ट्रीय-मुक्ति-संग्राम कंधे-से-कंधा मिलाकर ब्रिटिश साम्राज्यवाद को समाप्त करने के लिए प्रयत्नशील हो उठे ।

अस्तु, स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासों में स्वतन्त्रता-पूर्व जो राजनीतिक सन्दर्भ मिलते हैं , वे हैं :—

१. गांधीवादी या कांग्रेसयुक्त राष्ट्रीयतापरक सन्दर्भ
२. समाजवादी सन्दर्भ
३. आतंकवादी-क्रांतिकारी सन्दर्भ
४. साम्प्रदायिक सन्दर्भ

जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, राजनीति बीसवीं शताब्दी के मानव-जीवन का एक अभिन्न अंग बन गई है । वह प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में, चाहे या अनचाहे, किसी-न-किसी रूप में उससे सम्बद्ध रहती ही है । उपन्यासकार यथार्थवादी घटनाओं की तथा अपने युग की उपेक्षा नहीं कर सकता । उसकी कला सामाजिक प्रक्रिया का ही एक रूप है । यही कारण है कि कालान्तर में उपन्यास जीवन से इतना घुलमिल जाता है कि वास्तविक जीवन में तथा उपन्यास में अन्तर ढूंढना कठिन हो जाता है । स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में स्वातन्त्र्य-संघर्ष के प्रति आकर्षण स्वाभाविक है । स्वातन्त्र्य

संग्राम का प्रभाव स्वातन्त्र्योत्तर उपन्यासों पर पड़े बिना नहीं रहा । फलतः स्वातन्त्र्योत्तर उपन्यासों में गांधीवाद, समाजवाद, आतंकवाद तथा साम्यवाद की दार्शनिक चेतना का अंकन बराबर मिलता है । इन स्वातन्त्र्योत्तर उपन्यासों में कहीं किसी राजनीतिक 'वाद' का मंडन है, तो कहीं खंडन, कहीं व्यंग्य है तो कहीं विरोध, तो कहीं बलिदान का गुणगान । स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में तीनों ही राजनीतिक दर्शनों - गांधीवाद, समाजवाद और आतंकवाद की स्पष्ट छाप मिलती है ।

गांधी जी के प्रभाव से युक्त उपन्यासों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनमें गांधीवाद के प्रत्येक तत्त्व, यथा — अहिंसा, प्रेम, हृदय-परिवर्तन, सत्य, सदाचार तथा आश्रमवास आदि का सुन्दर निरूपण किया गया है । गांधी जी के व्यक्तित्व को पात्रों के व्यक्तित्व में ढाला गया है ।

स्वातन्त्र्योत्तर उपन्यासों में विभिन्न आतंकवादी गतिविधियों का अंकन भी हुआ है । यथार्थवादी आतंकपूर्ण घटनाओं को कल्पना की कूंची से नवीन रूप प्रदान किया गया है । साथ ही उसके उद्देश्य की स्पष्टता पर भी प्रकाश डाला गया है । स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासों में जिन आतंकवादी गतिविधियों का अंकन किया गया है उनमें से गुप्त बैठकों की आयोजना, बम द्वारा उच्च सरकारी अधिकारियों की हत्या, रेल तथा पुलों का ध्वंस करना, नौकरशाही में आतंक पैदा करना, विधान सभा में बम गिराना, दल के कार्य के लिए राजनीतिक डकैतियों का आयोजन करना, वेश परिवर्तन कर पार्टी का काम करना, साधु बनना, हथियार एकत्र करना आदि हैं । गदर आन्दोलन, 'काकोरी कांड' इत्यादि का अंकन भी इन उपन्यासों में उपलब्ध होता है ।

समाजवादी-चेतना से अनुप्राणित उपन्यासों में समाजवाद का प्रचार ही उपन्यासों का मुख्य उद्देश्य परिलक्षित होता है । उनमें उभरती हुई भारतीय सर्वहाराओं की चेतना के भाव-बोध को राजनीतिक अधिकारों के परिप्रेक्ष्य में ग्रहण किया गया है । पूंजीवाद तथा सामन्तवाद का विरोध

करना ही उनका एक मात्र उद्देश्य है । पूँजीवाद के विनाश के बिना जन-तान्त्रिक सरकार की कल्पना शेखचिल्ली की कहानी के अतिरिक्त कुछ नहीं है । समाजवाद के बढ़ते प्रभाव पर अंकुश लगाने के लिए ब्रिटिश सरकार ने `षड्यन्त्रों` का नाटक रचा था जिनमें कानपुर, मेरठ, लाहौर आदि षड्यंत्र प्रमुख रहे हैं । इन षड्यन्त्रों का चित्रण भी उपन्यासों में यत्रतत्र मिलता है ।

किन्तु हिन्दी उपन्यासों में सर्वाधिक प्रभाव गाँधी जी के सत्याग्रह आन्दोलन का ही पड़ा है । चम्पारन, खेड़ा, बारदोली सत्याग्रह आदि के अतिरिक्त असहयोग आन्दोलनों के विभिन्न सोपानों का अंकन भी अनेक कृतियों में हुआ है । जलियाँवाला बाग, चौरी चौरा की हिंसात्मक घटना, मोपला-विद्रोह (१९२१), शुद्धोद्धार आदि का भी अनेक उपन्यासों में उल्लेख किया गया है । गोलमेज सम्मेलन की असफलता के बाद ब्रिटिश सर-कार द्वारा प्रदत्त साम्प्रदायिक निर्णय का विवरण , गांधी- इर्विन समझौते इत्यादि के संकेत भी इन रचनाओं में मिलते हैं । इण्डियन नेशनल कांग्रेस के अधिवेशनों , पिकेटिंग, स्वराज्य की व्याख्या, नमक सत्याग्रह, लगान बंदी, नरमदलीय राजनीति, स्वराज्य पार्टी, साइमन कमीशन का बहिष्कार, स्वदेशी का प्रचार, विदेशी वस्त्रों की होली, प्रान्तीय प्रशासन की स्थापना, व्यक्तिगत सत्याग्रह, द्वितीय विश्वयुद्ध , क्रिप्स का भारत आगमन, अगस्त क्रान्ति, बंगाल का अकाल, आजाद हिन्द सेना, लाल किले पर उसके सैनिकों पर मुकदमा, नाविक विद्रोह, भारत का विभाजन, उससे उत्पन्न रक्तपात, शरणार्थी समस्या तथा गांधी जी की हत्या (१९४८) आदि विविध घटनाओं का चित्रण स्वातन्त्र्योत्तर उपन्यासों में कुशलता से चित्रित किया गया है ।

इस अध्याय में उल्लिखित स्वातन्त्र्योत्तर उपन्यासों में उपर्युक्त सन्दर्भ तो प्राप्त होते ही हैं, किन्तु आतंकवादी आन्दोलन और किसान -आन्दोलनों

तथा देश के विभाजन ने उनका ध्यान विशेषत: आकृष्ट किया है । १८५७ ई० के विद्रोह या प्रथम स्वतन्त्रता आन्दोलन की असफलता के बाद अंग्रेजों का दमन चक्र इतनी तेजी से चला कि राष्ट्रीय आन्दोलन एक प्रकार से समाप्तप्राय दृष्टिगोचर होने लगा । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी लिखा कि अंग्रेजों के भय के कारण भारतवासी सिर भी नहीं हिला सकते । इस संक्षिप्त संकेत के अतिरिक्त उनके साहित्य में १८५७ के आन्दोलनों का कहीं उल्लेख नहीं मिलता । ए०ओ० ह्यूम द्वारा १८८५ में इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना हुई । १८५७ के बाद अंग्रेजों की दमन-नीति के फलस्वरूप कोई आन्दोलन तो जन्म न ले सका, किन्तु आग भीतर ही भीतर सुलग रही थी । नवोदित और नव-शिक्षित मध्यम वर्ग की आकांक्षाओं और सरकार की राजनीतिक - आर्थिक नीति के प्रति असन्तोष की भावना को ह्यूम ने ताड़ लिया था । इसलिए उन्होंने इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना की । उस समय देश की युवा पीढ़ी ने भी सरकारी नीति की चुनौती स्वीकार की और उसने सशस्त्र क्रान्ति द्वारा देश को स्वतंत्र करने का बीड़ा उठाया । इस युवा पीढ़ी ने अत्य-धिक कष्ट सहते हुए और बड़े - से- बड़े बलिदान कर १९०४ और १९१० तक समस्त उत्तर भारत के सरकारी क्षेत्रों में आतंक उत्पन्न कर दिया । १९२१-२२ में जब महात्मागांधी ने अपना प्रथम असहयोग आन्दोलन वापिस लिया तो यह युवा पीढ़ी क्षुब्ध हो उठी और उसने फिर अपने आन्दोलन को तीव्र गति प्रदान की । महात्मा गांधी को उनके स्थूल हिंसात्मक साधनों में विश्वास नहीं था ।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में हमें आतंकवादी क्रान्तिकारियोंऔर उनकी गतिविधियों के संकेत बराबर मिलते हैं । उपन्यास-लेखकों ने पात्रों का जान हथेली पर रखकर फरार होने और आर्थिक तथा शारीरिक कष्ट सहने का उल्लेख किया है । शिक्षित मध्यम वर्ग उन्हें चुपके-चुपके आर्थिक सहायता प्रदान

करता था । वे सरकारी खजानों पर डाका डालकर अपने आन्दोलन के लिये अर्थ-संचय करते थे । मुल्क के इन नौनिहालों के प्रति देश-वासियों की सहानुभूति थी - भले ही उनके साधनों में उन्हें विश्वास न रहा हो । इन उपन्यासकारों ने अनेक समस्याएं उठाई हैं, किन्तु क्रान्तिकारी आन्दोलन से सम्बद्ध कोई-न-कोई पात्र अवश्य रखता है । क्रान्तिकारियों के प्रति सहानुभूति रखने वालों द्वारा गुप्त गोष्ठियां आयोजित करने के उल्लेख भी मिलते हैं । आत्मविश्वास, आत्मनिर्भरता, स्वयं अपने भाग्य का निर्माण करने की भावना, कुल-मर्यादा आदि भूलकर, अपने मानापमान की भावना से निर्लिप्त, मूल छोड़कर हर प्रकार की विपत्ति सहने की भावना से पूर्ण इन उपन्यासों के क्रान्तिकारी पात्र अदम्य साहस व्यक्त करते हैं । वे निरन्तर देश की आजादी के लिये तत्पर रहते हैं । उन्हें फांसी दी गई, उन्होंने जेल-यातनायें सहन कीं, किन्तु वे अपने निर्धारित मार्ग पर निरन्तर अडिग रहे । उन्हें इंडियन नेशनल कांग्रेस की प्रस्ताव पारित करने की नीति में विश्वास नहीं । कुछ पात्र तो देश का कल्याण अपने मार्ग पर चलते रहने में ही समझते हैं । वे कांग्रेस छोड़कर क्रान्तिकारी दल में शामिल हो जाते हैं । कुछ पात्र ऐसे भी अवश्य हैं जो क्रांतिकारियों के हिंसात्मक और ध्वंसात्मक साधनों के प्रति आस्था खोकर नेशनल कांग्रेस या साम्यवाद दल के सदस्य बन जाते हैं, किन्तु ऐसे पात्रों की संख्या बहुत अधिक न नहीं है । क्रान्तिकारियों में परस्पर मतभेद भी उत्पन्न हो जाता है जिसके फलस्वरूप दल के किसी सदस्य की हत्या का उदाहरण मिल जाता है । ऐसे उदाहरण अपवाद-स्वरूप ही माने जायेंगे । उनकी अपनी सांकेतिक भाषा होती थी । उनका अपना 'कोड' रहता था। उनके अपने गुप्तचर भी रहते थे । आलोच्यकाल के अधिकांश उपन्यास-लेखकों ने क्रान्तिकारियों और क्रान्तिकारी आन्दोलनों का उल्लेख करते हुए भी अन्त तक उनका समर्थन नहीं किया, क्योंकि उनकी आस्था गांधी जी द्वारा प्रवर्तित राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति अधिक है । यही कारण है कि अनेक क्रान्तिकारी

पात्रों में हृदय-परिवर्तन हो जाता है, यहाँ तक कि वे सरकारी अधिकारियों के सामने आत्म-समर्पण कर देते हैं । इसलिये इन उपन्यासों से स्वतन्त्रता-पूर्व क्रान्तिकारी आन्दोलन और वीर-क्रान्तिकारियों से जुड़े विविध पहलों और तत्कालीन राजनीतिक गतिविधियों का बोध होता है । स्वतंत्रता-पूर्व राजनीति में डूबकर उन्होंने विविध सूत्र बटोरने का सफल प्रयास किया है । देश को आज़ाद होना था । काम बहुत बड़ा था । क्रान्तिकारियों के योगदान से, उनके बलिदान और त्याग से, निस्सन्देह जन चेतना उत्पन्न हुई । हमारे उपन्यासकारों ने इस बात के संकेत दिये हैं कि क्रान्तिकारियों को मृत्युदण्ड मिल जाने या आजीवन कारावास का दण्ड या काले पानी की सजा मिल जाने पर क्रान्तिकारियों की शक्ति जब क्षीण हो गई और दल छिन्न-भिन्न हो गया तो अनेक क्रान्तिकारी हिंसा का मार्ग छोड़कर राष्ट्रीय आन्दोलनों से जुड़ गए ।

आलोच्य उपन्यासों में किसानों और किसान-आन्दोलनों का भी उल्लेख हुआ है । वास्तव में किसान गांधी जी के असहयोग आन्दोलन के अधिकारी अंग थे । उन्होंने 'ग्रामस्वराज्य' की कल्पना की थी — अर्थात् शासन-व्यवस्था का विकेन्द्रीकरण , ताकि साधारण से साधारण व्यक्ति भी लोकतांत्रिक व्यवस्था में सक्रिय रूप से भाग ले सकें । असली भारतवर्ष तो गांवों में ही बसता है । उन्हीं के हित के लिये उन्होंने खादी, चरखा, तकली, हाथकरघा आदि का प्रचार करना चाहा और सुशिक्षित नागरिकों से ग्रामीण अंचलों की सेवा करने की आशा व्यक्त की । गांधीजी गांवों को आत्म-निर्भर बनाना चाहते थे । उन्हें निर्भीक बनाना चाहते थे । किसान आन्दोलनों और खादी का आर्थिक महत्व तो था ही, उनका राजनीतिक पक्ष भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं था । गांधी जी के आह्वान पर गावों के रहने वालों ने लाठी-चार्ज सहे, कुर्कियाँ झेलीं, जेल-यातनायें आदि सहन कीं । राजनीतिक दृष्टि से गांववालों पर दुहरी मार पड़ती थी । अंग्रेज सरकार तो उन्हें पीड़ित करती

ही थी, राजे-महराजे, जमींदार और ताल्लुकेदार भी उन पर अत्याचार करते रहते थे। अपढ़ ग्रामीण महिलाओं तक ने गांधी जी द्वारा प्रचलित किसान आन्दोलनों में भाग लिया। नेताओं के जेल चले जाने के बाद इन ग्रामवासियों ने अपने ढंग से आन्दोलनों का संचालन किया और व्यक्ति का दृढ़ संकल्प स्वराज्य की नींव बना। इन सब औपन्यासिक प्रसंगों से स्वतंत्रता-पूर्व राजनीतिक आन्दोलनों की तीव्रता का बोध होता है। गांधी जी स्वयं सेवाग्राम में जाकर बसे थे। उनकी कुटिया कंगाल भारत का प्रतीक थी। गांधी जी के कार्य में त्याग था, बलिदान की भावना थी। देश के प्रत्येक निवासी से वे इसी आदर्श की आशा रखते थे।

मंत्रि-मण्डलों के बनने-बिगड़ने के प्रसंग भी आलोच्य उपन्यासों में मिल जाते हैं। १६३६-१६३७ में प्रान्तीय सरकारों का निर्वाचन हुआ था। कई जगह कांग्रेस की सरकारें भी बनीं। ये सरकारें दो वर्षों के अन्तराल में समाप्त हो गईं। उपन्यास-लेखकों ने उन्हें स्वराज्य-प्राप्ति के रूप में स्वीकार नहीं किया। स्वराज्य अभी दूर था। देश की स्वतंत्रता के लिए अभी बड़े-से-बड़ा बलिदान करने की आवश्यकता थी। १६४२ के जन-आन्दोलन में यह सिद्ध भी हो गया और उस समय नेता जेल में ठूंस दिये गये और जनता पर तरह तरह के अत्याचार किए गए।[१] गांधी जी के 'करो या मरो' (do or die) आन्दोलन ने भी आलोच्यकालीन उपन्यास लेखकों का ध्यान आकृष्ट किया है। १६४२ में कांग्रेस की समझौते की नीति का भी उन्होंने उल्लेख किया है। उपन्यास-लेखकों में उन लेखकों की संख्या अधिक है।

---

१. विस्तार के लिये दे 'India unreconciled (A documented History of Indian political events from the crises of August, 1942 to February, 1944);

'हिन्दुस्तान टाइम्स', नई दिल्ली द्वारा १६४३ और १६४४ में प्रकाशित

जिन्होंने स्वतन्त्रता-पूर्व के राजनीतिक आन्दोलनों में गांधी जी द्वारा प्रवर्तित राष्ट्रीय आन्दोलन में रुचि प्रकट की है और उसका प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप में समर्थन किया है। उन्होंने हिंसात्मक आन्दोलनों की कम वकालत की है। उनके आतंकवादी या कम्युनिस्ट पात्र ही हिंसा द्वारा मुल्क आज़ाद कराना चाहते हैं किन्तु उन्हें लेखकों का प्रतिनिधि पात्र नहीं कहा जा सकता ।

अन्त में स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों के विश्लेषण के उपरान्त यह कहना संगतपूर्ण होगा कि उपन्यासकारों ने अपनी रचनाओं में राजनीतिक घटनाओं को कल्पना के रंग में रंगते हुए भी ऐतिहासिक तथ्यों की पूर्ण रक्षा की है। कहीं कहीं तो यह मिश्रण मणिकांचन योग का उदाहरण प्रस्तुत करता है। जहां तक 'वाद' विशेष के प्रचार का प्रश्न है वहां उपन्यासकार निरपेक्ष दृष्टि का पूर्ण निर्वाह करने में असमर्थ ही रहा। स्वातन्त्र्योत्तर उप - न्यासों में स्वातन्त्र्य-संघर्ष की कोई-न-कोई घटना किसी-न-किसी रूप में अवश्य ग्रहण की गई है। उनमें व्यक्ति की सामाजिक समस्या को राष्ट्रीय सन्दर्भ में उठाकर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना से भी परिपुष्ट किया गया है। भारतीय राष्ट्रीयता के सन्दर्भ में युगानुकूल परिवर्तित मानव-मूल्यों का अंकन करके स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास ने गौरवपूर्ण कार्य किया है।

स्वतन्त्रता-पूर्व भारत में, छोटी-छोटी राजनीतिक टुकड़ियों को छोड़कर प्रधानत: तीन ही राजनीतिक दल प्रमुख थे जिनका उल्लेख आलोच्य-कालीन स्वातन्त्र्यपूर्व राजनीति का चित्रण करने वाले उपन्यासों में मिलता है — भारत सरकार (जिसकी राजनीतिक स्थिति इंगलैण्ड से संचालित होती थी), कांग्रेस और मुस्लिम लीग, इन तीनों के बीच स्वतन्त्रता-पूर्व भारत का राजनीतिक चक्र घूमता रहता था। भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना और उसकी साम्राज्यवादी नीति सर्वविदित है। उसका उल्लेख करने की यहां आवश्यकता नहीं है। किन्तु उसकी नीति के कुछ प्रमुख पहलू जैसे बंग-भंग (१९०५), १९०९ के मिंटो-मॉर्ले रिफार्म्स,

१९१९ के मांटेग्यु-चेम्सफ़ोर्ड रिफ़ार्म्स, रौलेट ऐक्ट (१९१९) आदि में मिलते हैं। तिलक और गांधी की द्वारा प्रचलित राष्ट्रीय आन्दोलनों को असफल बनाने के लिए उन्होंने १९०८ में मुस्लिम लीग की स्थापना कराई और १९१८ में लिबरल फेडरेशन की स्थापना कराई। ब्रिटिश सरकार की नीति साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहन देना और देश को टुकड़ों-टुकड़ों में बाँटना था। ब्रिटिश सरकार की इस नीति का विरोध गांधी जी तथा अन्य कांग्रेस नेताओं ने किया। ब्रिटिश सरकार ने कई गोलमेज कांफ्रेंसें कीं, किन्तु देश का स्वतन्त्रता-संग्राम उग्र होता गया जिसकी अन्तिम परिणति 'भारत छोड़ो' आन्दोलन में हुई।

१९०८ में मुस्लिम लीग की स्थापना के साथ यह दृष्टिकोण देश के सामने रक्खा गया कि हिन्दू और मुसलमान दो अलग-अलग राष्ट्र हैं और मुसलमानों का उद्धार हिन्दुओं से अलग होने में ही है। इस मत का प्रचार प्रारम्भ में उर्दू के प्रसिद्ध कवि सर मोहम्मद इकबाल, चौधरी रहमत अली, सर सैयद अहमद आदि ने किया जिसका पूरा लाभ मोहम्मद अली जिन्ना ने उठाया और भारत विभाजन हो गया। मुस्लिम लीग को लेकर ब्रिटिश सरकार ने हिन्दुओं और मुसलमानों में तनाव की स्थिति पैदा कर दी थी। देश के अन्य दलों के नेता, विशेष रूप से कांग्रेसी नेता, हताश होते जा रहे थे। ब्रिटिश सरकार ने मुस्लिम लीग को मुसलमानों का प्रतिनिधि संगठन स्वीकार कर लिया था। मुस्लिम लीग कांग्रेस को हिन्दू संस्था कहती थी, 'वन्दे मातरम्' गान का विरोध करती थी, गोवध-हत्या का समर्थन करती थी और कांग्रेस के राष्ट्रीय आन्दोलनों का विरोध करती थी। १९३८ के सिन्ध अधिवेशन में मुस्लिम लीग ने मुसलमानों के आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, सामाजिक उत्थान के लिए हिन्दू और मुसलमानों के दो अलग-अलग राष्ट्र स्थापित करने, अतः भारत का विभाजन करने, का प्रस्ताव रखा। १९३९ में भी इसी प्रकार का प्रस्ताव स्वीकार किया गया था। सौदा करने की दृष्टि से ही मुस्लिम लीग ने द्वितीय महायुद्ध में इंग्लैण्ड तथा उसके साथियों की सहायता करने का संकेत दिया। मुस्लिम लीग की यह माँग दिन-पर-दिन बढ़ती ही गई और १९४५ में पाकिस्तान के निर्माण की स्पष्ट रूपरेखा प्रस्तुत कर दी गई। अंग्रेजों की

की नीति का ही यह परिणाम था कि १९४७ में क्रिप्स मिशन के फलस्वरूप तत्कालीन वायसराय लार्ड माउन्टबाटन की देखरेख में भारत का विभाजन हो गया । वास्तव में भारत विभाजन हृदय को झकझोर देने वाली एक गम्भीर ऐतिहासिक घटना थी । अंग्रेजों की कूटनीति मुख्यत: `फूट डालो और शासन करो` का ही एक दुष्परिणाम भारत-विभाजन था । अंग्रेजों ने भारत-विभाजन की नीति क्यों अपनाई, इसका उत्तर हमें इतिहास और राजनीति की पुस्तकों और चिन्तकों के विचारों से प्राप्त हो जाता है । इस प्रकार इतिहास और राजनीति का अध्ययन यह भी स्पष्ट कर देता है कि भारत-विभाजन, उसके प्रयास आदि आकस्मिक न होकर ब्रिटिश शासन की एक सुनियोजित नीति का परिणाम था जिसे कम-से-कम भारत का प्रबुद्ध वर्ग तो जानता ही था । एक साथ निवास करने वाले विभिन्न जाति और धर्म के लोगों के बीच विद्वेष और शत्रुता की भावना कैसे पैदा हो गई ? क्यों एक से जातीय भावों और संस्कारों में पले ढले लोग -- हिन्दू, मुसलमान और सिक्ख-- एक दूसरे की जान के प्यासे बन गए ? क्यों वे उस पेड़ को ही काटने लग गए जिससे वे लिपटे हुए थे ? इन प्रश्नों का उत्तर किसी सीमा तक तत्कालीन इतिहास से प्राप्त होता है और साथ ही, हमारे देश का जातीय, सांस्कृतिक और राजनीतिक इतिहास जुड़ा हुआ है । साम्प्रदायिकता और विभाजन से सम्बन्धित प्रश्न भावुक उद्गार मात्र नहीं है और न ही इन्हें अनदेखा किया जा सकता है । साम्प्रदायिकता और विभाजन की घटना ने अपनी जो अमिट छाप भारतीय जन-मानस पर छोड़ी है, उसे समझने के लिए उसकी राजनीतिक, सामाजिक और साम्प्रदायिक पृष्ठभूमि को समझना अर्थात् इतिहास को उसके संश्लिष्ट रूप में जाँचना-परखना आवश्यक है जिसकी यहाँ आवश्यकता नहीं है ।

किन्तु इतना निश्चित है कि साम्प्रदायिकता और विभाजन का बीजारोपण अंग्रेजों की नीति के परिणामस्वरूप हुआ था । उसके विषैले

फल भारतीय जन-मानस को स्वतन्त्रता के बाद निरन्तर चखने पड़ रहे हैं। जो चिन्तक, इतिहासकार, देश-प्रेमी, राजनेता, समाजसुधारक और साहित्यकार विभाजन के बीज-वपन काल के प्रत्यक्षदर्शी हैं, उनके रक्त के बीज-कण कण-कण में 'विभाजन' की गाथा भरी पड़ी है। स्वतन्त्रता से पूर्व भी राष्ट्रप्रेमी चिन्तकों और साहित्यकारों ने अंग्रेजों के विभाजन करने और साम्प्रदायिकता की भावना पैदा करने वाले विचारों का विरोध, जब भी जैसे भी सम्भव हुआ, किया। अन्याय के प्रति भारतीयों का यह विरोध-प्रदर्शन यद्यपि प्रतिकूल परिस्थितियों से सम्बन्धित था, लेकिन इससे यह नहीं समझा जाना चाहिये कि यह निष्फल रहा। राष्ट्रप्रेमी चिन्तकों और साहित्यकारों के विरोध-प्रदर्शन और त्याग का ही परिणाम भारत की स्वतंत्रता है जो हमें १५ अगस्त, १९४७ को प्राप्त हुई। ऐसे साहित्यकार और समाज-सुधारक जो संक्रान्तिकाल से सम्बन्धित थे, स्वातन्त्र्य-पूर्व युग में तत्कालीन परिस्थितियों के कटु यथार्थ को भोग रहे थे, वे साहित्य और समाज सुधार के क्षेत्र में अब तक भी दखल रखते हैं। स्वतन्त्रता के पूर्व उन्होंने जो कुछ कहा, वही उनके आक्रोश की इति नहीं है, क्योंकि निरंकुश अंग्रेजी सत्ता और उसके आतंक के परिणामस्वरूप तत्कालीन साहित्यकार और समाज-सुधारक अन्तर की टीस को मुक्त रूप से व्यक्त नहीं कर सकते थे, क्योंकि उसे (विचारों की अभिव्यक्ति को) अंग्रेज देश-द्रोह मानते थे। साहित्यकार का व्यक्तित्व जिज्ञासु और अत्यधिक संवेदनशील होता है और उसके हृदय पर लगने वाली चोट उसे तब तक तड़पाती रहती है जब तक वह उसे किसी-न-किसी माध्यम द्वारा व्यक्त नहीं कर देता। भारत के संक्रान्तिकाल के साहित्यकार स्वतंत्रता से पूर्व जो घुटन अनुभव कर रहे थे, वह भारत की स्वतन्त्रता के पश्चात् विस्फोट के रूप में व्यक्त हुई -- व्यक्ति ही नहीं हुई अपितु मुक्त वातावरण में सांस ले रहा साहित्यकार हृदयस्थ भावों की टीस को व्यक्त करते हुए कराह उठा। वही कराह स्वातन्त्र्योत्तर काल में मोहभंग की स्थिति में रहते हुए अनेक उपन्यासकारों ने व्यक्त की है।

अतः अनेक स्वातन्त्र्योत्तर काल के उपन्यास-लेखकों ने स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पूर्व अर्थात् स्वतन्त्रता-संघर्ष-काल की राजनीतिक झलकें पहचानी हैं और उन राजनीतिक सूत्रों को पकड़ने की कोशिश की है जिनके सहारे देश में जन-तांत्रिक प्रणाली स्थापित हुई। उस समय राष्ट्रीयता और कांग्रेस पर्यायवाची शब्द थे। इसलिए स्वतन्त्रता-काल में जिन उपन्यासकारों ने स्वतन्त्रता-पूर्व के राजनीतिक सन्दर्भों का उल्लेख किया है उनमें से बहुसंख्यक उपन्यासकारों का दृष्टिकोण बहुत - कुछ तत्कालीन कांग्रेसी राष्ट्रीय दृष्टिकोण है। ऐसे उपन्यासकारों में भगवद्ग ठाकुर (`भूमिका`, १९५०), इलाचन्द्र जोशी (`मुक्तिपथ`, १९५०, `जिप्सी` १९५२) आदि), रघुभरण जैन (`गदर`, १९५२, `सत्याग्रह` १९५५), जैनेन्द्रकुमार (सुखदा`, १९५२, `जयवर्धन`, १९५६ ), देवेन्द्र सत्यार्थी (`ब्रह्मपुत्री`, १९५४ ) बाल्मा (`अंधेर उजाले`, १९५४ ) विष्णु प्रभाकर (`निशिकान्त`, १९५५ ) उपेन्द्रनाथ अश्क (`संघर्ष का सत्य,` १९५७, `शहर में घूमता आइना`, १९६३ आदि ), बलवन्त सिंह (`काले कोस`, १९५७ ) भगवती-चरण वर्मा भूले बिसरे चित्र`, १९५९, `सीधी सच्ची बातें`, १९६८ आदि, लक्ष्मीनारायण लाल (`रूपाजीवा`, १९५९ आदि) , यज्ञदत्त शर्मा (स्वप्न खिल उठा`, १९६० तथा उनके अन्य पिछले उपन्यास), रामदरश मिश्र , `पानी के प्राचीर,` १९६१ ), नरेश मेहता (`यह पथ बन्धु था`, १९६२ ) शमशेर सिंह नरूला (`एक पंखुड़ी की तेज धार,` १९६५ ) , देवीदयाल चतुर्वेदी `संकल्प`, १९६८ ), रामकुमार भ्रमर (`फौलाद का आदमी`, १९६९ ), महावीर अधिकारी (`मंजिल से आगे` , १९७६) तथा अन्य ऐसे उपन्यासकार जिनकी औपन्यासिक कृतियों में स्वतन्त्रता-पूर्व राजनीतिक सन्दर्भ मिलते हैं।

भगवद्ग ठाकुर ने अपने उपन्यास में सत्याग्रह आन्दोलन , आतंकवादी आन्दोलन, भारत छोड़ो आन्दोलन और हिन्दू मुस्लिम साम्प्रदायिक राजनीति

का वर्णन किया है। उन्होंने सुमन, रघुवीर और गौरीशंकर इन पात्रों के माध्यम से और मध्यमवर्गीय जीवन के सन्दर्भ में स्वतन्त्रतापूर्व युग के प्रति आदर्शवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। इलाचन्द्र जोशी हिन्दी के उन उपन्यासकारों में से हैं जिन्होंने मनोविश्लेषण शास्त्र का आश्रय ग्रहण कर दमित वासनाओं के फलस्वरूप मानव के विकृत मन का चित्रण किया और हिन्दी उपन्यास-साहित्य को एक नई दिशा प्रदान की। इलाचन्द्र जोशी ने अपने 'घृणामयी' 'या लज्जा' (१६२६), 'सन्यासी' (१६४१) , 'पर्दे की रानी' (१६४१), 'प्रेत और छाया' (१६४४ या १६४६) , 'निर्वासित' (१६४६), 'मुक्तिपथ' (१६५०), 'जिप्सी' (१६५२), 'सुबह के भूले' (१६५२), 'जहाज़ का पंछी' (१६५५), 'ऋतुचक्र' (१६६६), 'भूत का भविष्य' (१६७३), सीमक उपन्यासों में मन की ग्रन्थियाँ खोली हैं और इस दृष्टि से, उनके अन्य उपन्यासों के अतिरिक्त, 'सन्यासी' (१६४१) उपन्यास अत्यन्त ख्याति प्राप्त कर चुका है। किन्तु व्यक्ति के मन का विश्लेषण करने के साथ-साथ उन्होंने 'मुक्तिपथ', १६५०), 'जिप्सी' (१६५२), 'जहाज का पंछी' (१६५५) 'ऋतुचक्र' (१६६६) और 'भूत का भविष्य' (१६७३) में समाज सापेक्ष दृष्टिकोण भी व्यक्त किया है। उनके उपन्यास 'जहाज का पंछी' का नायक समाज की गंदी गलियों में घूमता है और पीड़ितों की सहायता करता है। किन्तु उनके उपन्यासों में स्वतंत्रता-पूर्व या स्वातन्त्र्योत्तर राजनीति के चक्र का उल्लेख एक प्रकार से नगण्य है। इसी प्रकार उनके 'मुक्ति पथ' में मनोविज्ञान प्रमुख होने पर भी उसका नायक समाजवादी विचारधारा का है। किन्तु स्वतन्त्रता से पूर्व की राजनीति के उसमें रोचक संदर्भ मिलते हैं। भारत में मार्क्सवाद के ,मजदूर आन्दोलन, आतंकवाद और गाँधी जी के अहिंसात्मक सत्याग्रह आन्दोलन की ओर उन्होंने इंगित किया है। राजीव गाँधी जी के सिद्धान्तों का अनुयायी है और वह अहिंसा द्वारा देश में स्वराज्य प्राप्त कर एक आदर्श राज्य स्थापित करना चाहता है। इस उपन्यास में एक मध्यम वर्गीय परिवार द्वारा राजनीतिक दृष्टिकोण पल्लवित हुआ है।

इसी प्रकार उनके `जिप्सी` उपन्यास में स्वतन्त्रता के पूर्व अनेक राजनीतिक पक्षों का चित्रण हुआ है। जैसे :- मार्क्सवादी, समाजवादी, गांधीवादी और अन्त में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक परिस्थिति। जोशी जी ने उपन्यास के पात्र विरेन्द्र के माध्यम से किसान और मजदूर आन्दोलनों की ओर संकेत भर किया है। वे जमींदारों, पूंजीपतियों और उनके द्वारा किये गये शोषण के विरुद्ध आवाज़ उठाता है। वास्तव में स्वतंत्रता के से पूर्व बेकारी और निर्धनता के फलस्वरूप मध्यम वर्ग में विद्रोह की भावना पैदा हो गई थी और अनेक युवक वामपंथी हो गये थे। इसीलिये राजीव में वर्ग-संघर्ष की भावना प्रबल है। राजीव के विपरीत रंजन गांधी जी के सिद्धान्तों का मानने वाला है और अहिंसा द्वारा स्वराज्य प्राप्त करना चाहता है। इस उपन्यास में जोशी जी ने तेजी से बदलती हुई राजनीतिक गतिविधियों का चित्रण किया है। उनके अन्तिम उपन्यासों में भी क्षणिक राजनीतिक सन्दर्भ मिलते हैं।

अश्क के `गर्म राख` में यद्यपि रजनी कम्यूनिस्ट नेता है, वह हिंसा में विश्वास करता है और देश में समाजवाद लाने का स्वप्न देखता है, जेल की यातनाएं सहता है, तो भी उसमें कांग्रेसी राजनीति आए बिना नहीं रह सकी। लेखक ने १९४२ के भारत छोड़ो आन्दोलन का भी उल्लेख किया है। लेखक असन्तुलित समाज के बीच रहने वाले अबोध मानवों के प्रति संवेदनशील है। चतुरसेन शास्त्री कृत `वैशाली की नगर वधू` (१९४८) ऐतिहासिक उपन्यास है जिसमें बौद्धकालीन राजनीतिक परिस्थिति का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है, स्वातन्त्र्योत्तर भारत की राजनीति का नहीं। उनके `धर्मपुत्र` (१९५४) में हिन्दु-मुस्लिम एकता पर बल दिया गया है। हुस्न बानू के अवैध पुत्र , दिलीप और माया का विवाह हिन्दु-मुस्लिम एकता का प्रतीक बन जाता है। उपन्यास में स्वाधीनता आन्दोलन से सम्बन्धित कुछ घटनाएं हैं। नायक दिलीप का चित्रण आदर्शवादी ढंग से हुआ है। `सोना और खून`

(१६६०) अढ़ाई भागों में उन्होंने अकबर एवं शाहआलम से लेकर भारत में अंगरेजी राज्य की स्थापना और षड़यन्त्र और १८५७ के प्रथम स्वाधीनता आन्दोलन तक का वर्णन किया है । उनके `मोती` (१६६१) उपन्यास में नवाब रियाज़ अहमद हंसराज के साथ मिलकर अपनी ऐयाशी छोड़ देता है और स्वाधीनता आन्दोलन में भाग लेने लगता है । मोती भी देशभक्त हो जाता है और हंसराज के साथ मिलकर वायसराय की ट्रेन को बम से उड़ा देना चाहता है । हंसराज देशप्रेम का व्रत लेता है ।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी हिन्दी के उन उपन्यासकारों में हैं जिन्होंने निरन्तर उपन्यास-साहित्य की समृद्धि की । `प्रेमपथ` (१६२६) से लेकर अब तक उन्होंने अनेक उपन्यासों की रचना की है । किन्तु उनके अधिकतर उपन्यास सामाजिक, प्रेमपूर्ण, दार्शनिक और भावुकतापूर्ण हैं । उनका दृष्टिकोण आदर्शवादी है । उनके एकाध उपन्यासों में ही राजनीतिक सन्दर्भ मिलते हैं, जैसे `पतवार` (१६५२) में गांधीवादी विचारधारा का प्रभाव है । `भूदान` (१६५४) राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत सामाजिक उपन्यास है । वाजपेयी जी के उपन्यासों में सांस्कृतिक संघर्ष अधिक है, न कि राजनीतिक संघर्ष का चित्रण । इसी प्रकार वृन्दावनलाल वर्मा के लगभग सभी उपन्यास ऐतिहासिक हैं । अप्रत्यक्ष रूप उनका सम्बन्ध आधुनिक राष्ट्रीय भावना से अवश्य है, किन्तु उनमें आधुनिक राजनीतिक सन्दर्भों का अभाव है । `अमर बेल` (१६५३) में अवश्य टंडन नामक एक पात्र साम्यवादी विचारधारा का है, क्योंकि वह उपन्यास सहकारिता विषय पर लिखा गया सामाजिक उपन्यास है । प्रतापनारायण मिश्र के `बयालिस` (१६४८) और विसर्जन (१६५०) में गांधीवादी सिद्धान्तों का प्रभाव है `बयालिस` में हिन्दु-मुस्लिम साम्प्रदायिकता और अंगरेजों की भेदनीति का उल्लेख हुआ है । उनके `बेकसी का मज़ार` (१६५६) में १८५७ की प्रथम स्वाधीनता क्रान्ति का वर्णन हुआ है । `विश्वास की वेदी पर` (१६६०) उनका चीन की समस्या पर लिखा गया उपन्यास है

जिसमें चीन के बर्बर आक्रमण का उल्लेख हुआ है। ऋषभचरण जैन के अधिकतर उपन्यासों में सामाजिक कुरीतियों, कुरूपताओं और विषमताओं का चित्रण हुआ है। `गदर` (१९३०), `सत्याग्रह` (१९३०) आदि में -स्वाधीनता-आन्दोलन और स्वतंत्रतापूर्व राजनीति के उल्लेख मिलते हैं किन्तु उपन्यास हमारे आलोच्य काल के अन्तर्गत नहीं आते। विश्वम्भरनाथ शर्मा `कौशिक` ने समाज की ज्वलन्त समस्याएँ उठाई हैं। उनके उपन्यास भी आलोच्यकाल से सम्बन्धित नहीं हैं। जयशंकर `प्रसाद`, `निराला` सियारामशरण गुप्त आदि के उपन्यासों का सम्बन्ध भी आलोच्य विषय और काल से नहीं है।

हिन्दी के प्रसिद्ध उपन्यासकारों में जैनेन्द्रकुमार का मूर्धन्य स्थान है। उनका आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया `सुखदा` (१९५२) (सुनीता, १९३५, त्यागपत्र, १९३७, कल्याणी, १९३९ आलोच्यकाल से पहले के हैं।) उपन्यास राजनीतिक जीवन के खोखलेपन का चित्रण करता है। ऐसा करते समय लेखक ने देश के राष्ट्रीय जीवन की विभिन्न राजनीतिक धाराओं का अत्यन्त सुन्दर चित्रण किया है। यद्यपि अपने स्वभावानुसार जैनेन्द्रकुमार इस उपन्यास में अपना निजी आदर्शवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं, तो भी क्रान्तिकारी, समाजवादी आदि राजनीतिक हलचलों का उल्लेख उन्होंने यथार्थवादी दृष्टि से किया है। उनके `जयवर्धन` उपन्यास का पात्र जयवर्धन गांधी जी के सिद्धान्तों में विश्वास रखता है और अहिंसा के द्वारा ही देश में स्वराज्य-प्राप्त करना चाहता है। उसके राजनीतिक सिद्धान्त गांधी जी के सिद्धान्त हैं। वैसे तो उनके उपन्यासों में कुछ व्यक्ति, उनकी सीमाएँ, उनके मानसिक संस्कार, उनकी स्मृतियाँ, उनकी प्रेय और श्रेय, उनके पाप और यातनाएँ सभी रहती हैं, किन्तु उनके `परख` से लेकर `अनाम-स्वामी` तक उपन्यासों का परिवेश प्रायः घर तक ही सीमित रहता है। राजनीति उनमें अधिक नहीं है। उनका `जयवर्धन` (१९५६) प्रत्यक्षतः

राजनीतिक उपन्यास मालूम होता है, किन्तु मूलत: उसमें कथानक जयवर्धन के बाह्याभ्यन्तर के विश्लेषण द्वारा उसके व्यक्तित्व को उजागर करता है। हस्टन जयवर्धन को पहचान कर भारत को, भारत के देहात को पहचानना चाहता है मानों जयवर्धन ही भारत है। अप-आचार्य के व्यक्तित्व में नेहरू-गांधी की अनुरूपता पहचानी जा सकती है। जयवर्धन की राष्ट्रनीति और पर-राष्ट्रनीति आचार्य जानता है। उसमें आतंकवादी इन्द्रमोहन का प्रसंग भी है। मोटे तौर से `जयवर्धन` में देश की राजव्यवस्था की आलोचना की गई है। उसमें आज से पचास वर्ष बाद की राजनीतिक व्यवस्था की रूप-रेखा तैयार की गई है और कांग्रेस, सोशलिस्ट, प्रजासोशलिस्ट, जनसंघ, स्वतन्त्र पार्टी, कम्युनिस्ट पार्टी सभी के विचार प्रस्तुत किए गए हैं। आचार्य गांधीवादी हैं, स्वामी जनसंघ का हिन्दूवादी है और इला समाजवादी या साम्यवादी है। ये सभी पार्टियाँ जयवर्धन को अपदस्थ करना चाहती हैं। यह आधुनिक राजनीतिक दलों की सत्ता लोलुपता है जिसके कारण उनमें परस्पर संघर्ष है। नेताओं में आत्मरति है, इसलिए राजनीतिक जीवन में घात-प्रतिघात का बोलबाला है। जैनेन्द्रकुमार के `विवर्त` (१९५३), `व्यतीत` (१९५३) तथा बाद के उपन्यासोंमें स्वतन्त्रता-पूर्व राजनीति के संकेत नहीं मिलते।

इलाचन्द्र जोशी, जैनेन्द्र कुमार, आदि के अतिरिक्त विष्णु प्रभाकर भी हिन्दी के प्रसिद्ध उपन्यासकार हैं। हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता और मुस्लिम लीग की स्थापना के बीच उन्होंने गांधीवादी दर्शन पर आधारित अहिंसात्मक राष्ट्रीय आन्दोलन का मूल्यांकन किया है। निशिकान्त का उद्देश्य जीवन भर देश की सेवा करना है। उसमें १९२० तक के सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन को आधार बनाकर मध्यवर्ग के एक संवेदनशील युवक की कहानी प्रस्तुत की गई है। `तट के बन्धन` में भारत-विभाजन को आधार बनाकर उन्होंने नारी जीवन की विविध समस्याएँ उठाई हैं। उपेन्द्रनाथ `अश्क` ने

हिन्दी के प्रसिद्ध उपन्यासकार और नाटककार हैं । उनके उपन्यासों में देश के राष्ट्रीय जीवन में उत्पन्न, तीव्र चेतना का अंकन हुआ है । `संघर्ष का सत्य` उनका एक ऐसा ही उपन्यास है जिसमें विभिन्न राजनीतिक आन्दोलनों का वर्णन हुआ है । जैसे जलियांवाला बाग का हत्याकाण्ड, खिलाफत आन्दोलन । हिन्दू-मुस्लिम समस्या, गांधी-इरविन पैक्ट, मजदूर आन्दोलन आदि । इस उपन्यास में हरीश के व्यक्तित्व द्वारा गांधी जी के सिद्धान्तों की झलक मिलती है । उस समय असहयोग आन्दोलन और खिलाफत आन्दोलन में जो गठबन्धन हुआ था और जिसके फलस्वरूप १९२०-२१ में एक नई राजनीतिक स्थिति पैदा हो गई थी उसका भी संकेत मिलता है । लेखक ने यथार्थवादी दृष्टिकोण ग्रहण करते हुए उस समय की राजनीति का अत्यन्त सजीव चित्रण किया है । `संघर्ष का सत्य` में एक स्थान पर कहा गया है कि अन्य राष्ट्रों की भांति भारत का भी यह जन्मसिद्ध अधिकार है कि वह पूर्ण स्वतंत्र हो । इससे तत्कालीन राजनीतिक, गतिविधि और उद्देश्य का परिचय प्राप्त होता है । `अश्क` जी के प्रसिद्ध उपन्यास `शहर में घूमता आइना` में स्वदेशी आन्दोलन, मुस्लिम लीग की स्थापना, कांग्रेस आन्दोलन आदि को लेकर जालन्धर शहर की राजनीति का वर्णन हुआ है । निष्ठा, गोविन्द, रतनलाल विभिन्न राजनीतिक पार्टियों के नेता हैं ।

देवेन्द्र सत्यार्थी ने अपने `कठपुतली` उपन्यास में जलियांवाला बाग हत्याकाण्ड, असहयोग आन्दोलन, मुस्लिम लीग की राजनीति आदि से लेकर भारत विभाजन और महात्मागांधी की हत्या तक की राजनीतिक घटनाओं का वर्णन किया है । इस उपन्यास में पंजाब या लाहौर की राजनीति का वर्णन प्रमुख रूप से हुआ है । बलवन्त सिंह ने स्वतन्त्रता-संघर्ष के बीच विविध राजनीतिक आन्दोलनों के साथ-हिन्दू-मुसलमानों के उस संघर्ष का प्रमुख रूप से वर्णन किया है जिसके फलस्वरूप जिन्ना हिन्दू-मुसलमानों को अलग-अलग रखना आवश्यक समझते थे । लेखक ने इस आन्दोलन के पीछे की

कूटनीति की ओर संकेत किया है । उन्होंने जिन्ना को राजनीतिज्ञ के ही रूप में चित्रित किया है, न कि भावुक व्यक्ति के रूप में । हिन्दुओं द्वारा किए गए ज़ुल्मों की काल्पनिक घटनाएं गिना-गिनाकर जिन्ना और मुस्लिम लीग ने पूरी साजिश के साथ अंग्रेजों का साथ दिया । उन्होंने लाहौर के दंगों का और पाकिस्तान की जोरदार मांग का जोरदार वर्णन किया है । हिन्दू पात्र भी आहभरकर कहते हैं कि मुसलमानों ने हमारे मन्दिर गिराए, हमारी स्त्रियों की लाज लूटी, हम पर जज़िया कर लगाया, हमारे घर जलाए । वास्तव में लेखक ने इस बात की ओर संकेत किया है कि इतिहास के सन्दर्भ में दोनों का एक दूसरे के प्रति अविश्वास प्रकट करना अंग्रेजों द्वारा पढ़ाए गए इतिहास का परिणाम था और हिन्दू-मुस्लिम समस्या की जड़ें बहुत गहरी थीं । इसका बीज एक ग़ैर कौम ने बोया था । लेखक का विश्वास है कि हिन्दू-मुस्लिम समस्या को पूंजीवादी व्यवस्था ने ही पालापोसा और उच्च वर्ग के लोगों की क्रियाशीलता ही उसमें सबसे अधिक दिखाई दी । ग़रीब जनता, भोले-भाले लोग, सीधेसादे मज़दूर और किसान एक दूसरे के खून के प्यासे नहीं थे । सबसे अधिक दुःख की बात तो यह थी कि आज़ादी धर्म पर आधारित हुई और इन्साफ़ के नाम पर ही इन्सान ने इन्सान का बेदर्दी के साथ खून किया और इस प्यारे देश के खंड-खंड कर डाले । स्वतन्त्रता-पूर्व के राजनीतिक उतार-चढ़ाव में लेखक ने अंग्रेजों के शरारत और उनके साथ पूंजीवादी और सामन्तवादी गठबन्धन का हाथ बताया है । लेखक को अन्त में मानवता की विजय पर विश्वास है ।

हिन्दी के उपन्यासकारों में भगवतीचरण वर्मा का महत्वपूर्ण स्थान है । उनके `पतन` (१९२९ या २८), `चित्रलेखा` (१९३४ या ३३), `तीन वर्ष` (१९४६), `टेढ़े-मेढ़े रास्ते` (१९४०) (इसके उत्तर में डा० रांगेय राघव कृत `सीधा सादा रास्ता` (१९५५)), `आखिरी दांव` (१९५०)

`अपने खिलौने` (१९५७), `भूले-बिसरे चित्र` (१९५९), `वह फिर नहीं आई` (१९६०), `सामर्थ्य और सीमा` (१९६२), `थके पाँव` (१९६३), `रेखा` (१९६४), `सीधी सच्ची बातें` (१९६८), `सबहिं नचावत राम गोसाईं` (१९७०), `प्रश्न और मरीचिका` (१९७३) शीर्षक उपन्यास हैं । उनके उपन्यासों का क्षेत्र बहुत व्यापक है । उन्होंने मध्यमवर्गीय जीवन के सफल चित्रण द्वारा स्वातन्त्र्य-पूर्व और स्वातन्त्र्योत्तर अनेक समस्याओं पर प्रकाश डाला है । उनका मूल स्वर अहं भावना, स्वच्छन्द भावना, विद्रोह भावना और, स्वभावत:, व्यक्तिवाद है । वे छायावाद, काल के कवि थे (`मधुकण` १९३२, `प्रेम संगीत` उनकी काव्य रचनाएँ हैं) । किन्तु प्रधानत: वे उपन्यासकार हैं, कवि नहीं । वे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में परिवर्तन चाहते थे । वे नियतिवादी हैं उन्होंने आधुनिक भारत का विकास प्रस्तुत किया है ।

उनके उपन्यासों में उपलब्ध राजनीतिक सन्दर्भों से जहाँ तक, सम्बन्ध है उनके `तीन वर्ष` और `टेढ़े-मेढ़े रास्ते` में पूरे एक दशाब्द का अन्तर है । `टेढ़े-मेढ़े रास्ते` (१९३० और उसके बाद) में सत्याग्रह आन्दोलन को आधार बनाकर, राजनीतिक हलचलों की ओट में, वे स्वतंत्रता पूर्व भारत की राजनीतिक स्थिति (भारत-विभाजन से एक वर्ष पूर्व) से जुड़े हैं । इसमें उन्होंने एक जमींदार परिवार के सदस्यों के माध्यम से विभिन्न राजनीतिक मतों का परिचय देते हुए उनकी दिशाहीनता प्रदर्शित की है । अनेक आन्दोलन तो मात्र नारे बनकर रह गए । यह उपन्यास राजनीतिक चेतना से पूर्ण उपन्यास है —यद्यपि स्थूल दृष्टि से वह राजनीतिक है, किन्तु वह मानव मूल्यों के संक्रमण पर बल देता है । १९३०-३२ के आसपास के भारतीय राजनीतिक जीवन का चित्रण उन्होंने रामनाथ तिवारी के तीन पुत्र —दयानाथ, उमानाथ और प्रभानाथ के

माध्यम से किया है । पहला कांग्रेसी, दूसरा साम्यवादी और तीसरा आतंकवादी है । अंग्रेजों और जमींदारों के गठबन्धन के फलस्वरूप इन तीनों राजनीतिक वर्गों की विचारधारा, क्रियाकलाप एवं प्रणाली आदि की तुलनात्मक तथा विश्लेषणात्मक व्याख्या इस उपन्यास में की गई है । रामनाथ नई राजनीतिक चेतना अपनाने में असमर्थ है । वह सामंतवाद का प्रतिनिधित्व करता है । उन सब में अहं है और वे अपने - अपने अहं की तुष्टि के लिए तर्क प्रस्तुत करते हैं और बड़े से - बड़ा बलिदान करने के लिए तैयार रहते हैं । चुनाव का उल्लेख भी उपन्यास में हुआ है । लेखक ने आर्थिक वैषम्य का चित्रण भी किया है । किसान-जमींदार संघर्ष और किसानों की अधिकार-भावना भी है । रामनाथ तिवारी का मैनेजर रामसिंह किसानों पर अत्याचार करता है, क्योंकि किसानों ने लगान देना बन्द कर दिया है । लगान-बंदी स्वतन्त्रता-संघर्ष का महत्वपूर्ण पक्ष था । मैनेजर की हत्या राजनीतिक हत्या ही मानी जायगी । गांधी-युग का चित्र तत्कालीन राष्ट्रीय आन्दोलन द्वारा सामने आ जाता है । लेखक ने अन्य राजनीतिक मतों की अपेक्षा गांधी जी के आन्दोलन का चित्रण करते हुए सत्याग्रह, स्वयंसेवकों की भर्ती, शराब और विदेशी माल बेचने वालों की दुकानों पर धरना, सभाओं-जुलूसों, लाठीचार्ज आदि के रूप में अंग्रेजों का दमन चक्र, जेल यातनाओं , शवयात्राओं आदि का उल्लेख किया है । साम्यवादियों से अधिक आतंकवादियों का उल्लेख कम हुआ है । लेखक ने मुस्लिम लीग और हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष की उपेक्षा की है । उनके कुछ पात्र जमींदार वर्ग के हैं और उन्हीं के द्वारा उन्होंने तत्कालीन भारत की राजनीतिक चेतना का वर्णन किया है । वैसे भगडू, वीणा, मार्कण्डेय, कुन्दन जैसे जनवर्गीय पात्र भी हैं, किन्तु इस सबके बाद यह प्रश्न उठता है कि क्या सामंती परिवार से भारत की स्वतन्त्रता का कोई ठोस कार्य हो सकता है ?

'आखिरी दांव' (१९५०) में उन्होंने पतनोन्मुख पूंजीवादी समाज का चित्रण किया है । चमेली को पूंजीवादी समाज में सुख-शान्ति प्राप्त नहीं

होती । यह उपन्यास प्रधानत: सामाजिक उपन्यास है । अपने एक अन्य सामाजिक उपन्यास `अपने खिलौने` (१६५७) में भगवतीचरण वर्मा ने राजकुमार वीरेन्द्रप्रताप के माध्यम से मिटती हुई सामंती व्यवस्था के अवशिष्ट चिह्नों का वर्णन किया है । उसमें सामंती और पूंजीवादी प्रवृत्तियों का विचित्र सम्मिश्रण है । यह साधारण कोटि का उपन्यास है । किन्तु उनका `भूल-बिसरे चित्र` (१६५६) बहुचर्चित उपन्यास है जिसमें १८८५ से १६३० के राजनीतिक सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं । कथा एक मध्यमवर्गीय परिवार की चार पीढ़ियों की मान्यताओं, विश्वासों, पारिवारिक सम्बन्धों और जीवन-चर्या द्वारा अंकित की गई है । कथा का प्रधान पात्र ज्वालाप्रसाद है । सम्पूर्ण उपन्यास पांच छोटे-बड़े खण्डों में विभक्त है । लेखक ने कुछ प्रमुख समस्याएं ली हैं --सामन्तवाद का ह्रास, पूंजीवाद का विकास और मध्यमवर्ग का उदय, राष्ट्रीय चेतना का विकास, सम्मिलित कुटुम्ब प्रथा का विघटन । इस उपन्यास में भारत की नवीन चेतना का क्रमिक विकास मिलता है । उसमें पारिवारिक, व्यक्तिगत, सामाजिक चेतना के साथ-साथ राजनीतिक चेतना भी है । उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में अंग्रेजी राज्य सुदृढ़ हो चुका था और देश में साम्प्रदायिकता (हिन्दू- मुस्लिम संघर्ष) का विष फैल रहा था । उपन्यास के चौथे खण्ड में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध राष्ट्रीय विचारधारा की अभिव्यक्ति कांग्रेस आन्दोलन द्वारा कराई गई है । राष्ट्रीय चेतना सरकारी अधिकारी गंगाप्रसाद के माध्यम से अधिक हुई है । अंग्रेजों से मुक्ति प्राप्त करने के लिए साम्प्रदायिक एकता आवश्यक है । गांधी जी के रहते हुए भी भारतीय राजनीति उलझी हुई थी । लेखक ने १७ वीं - १८वीं शताब्दी की मुगल-मराठाकालीन राजनीतिक परिस्थिति का उल्लेख करते हुए इस बात की ओर संकेत किया है कि हिन्दू-मुस्लिम समस्या का अन्त हो गया होता यदि अंग्रेज यहां न आए होते । स्वराज्य का नारा हिन्दुओं ने लगाया था, मुसलमानों ने नहीं । मुसलमानों में जब चेतना उत्पन्न हुई तो उन्होंने स्वतंत्र-भारत में हिन्दुओं की गुलामी

करना पसन्द नहीं किया । उनका ख्याल था कि हिन्दू उन्हें हज़म कर जाएंगे, उनका अस्तित्व मिट जाएगा । इस प्रकार भारतीय राजनीति में मज़हब का दख़ल हो गया । राष्ट्रीय आन्दोलन नगरों तक ही सीमित नहीं रहा । वह गाँवों तक पहुँचा । अनेक जगह वह हिंसात्मक भी हो उठा । इस उपन्यास में सामन्त वर्ग का पतन और मध्यमवर्ग के उदय का विश्लेषण मिलता है । उनकी दृष्टि में पूँजीवाद के अभिशाप की प्रतिक्रिया में व्यक्तिवादी चिन्तन प्रारम्भ हुआ । हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य भी पूँजीवादी परिस्थितियों का दुष्परिणाम है । गेंदालाल के माध्यम से उन्होंने अछूतों की समस्या भी उठाई है । ज्वालाप्रसाद पुराणपंथी ब्राह्मणों से अछूतों के लिए कुओं से पानी लाने के लिए कहता है । विमा कांग्रेस अधिवेशनों में भाग लेती है । वैसे तो उपन्यास की मूल समस्या विशृंखलित सामंतीसमाज में व्यक्ति की अतृप्ति की भावना और उसकी कामेच्छा की तीव्रता है, किन्तु विमा और नवल जैसे पात्रों द्वारा लेखक ने राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन का भी कुछ चित्रण करने और युग की परिवर्तनशीलता की यथार्थता सिद्ध करने की चेष्टा की है । किन्तु वर्मा जी का मन इस ओर अधिक रमा नहीं है । वैसे उन्होंने परिवर्तनशील ऐतिहासिक धारा को मध्यमवर्ग द्वारा अंकित करने में सफलता प्राप्त की है । उपन्यास के चौथे खण्ड में गांधीवादी आन्दोलनों से सम्बद्ध राजनीतिक समस्याएँ हैं । `वह फिर नहीं आई` (१९६२) में भारत-विभाजन का प्रसंगवश उल्लेख मात्र हुआ है । `सामर्थ्य और सीमा` (१९६२) में स्वातन्त्र्योत्तर औद्योगिक विकास-योजना और जमींदारी-उन्मूलन के फलस्वरूप भारतीय नरेशों की दयनीय स्थिति का उल्लेख मिलता है । `टेढ़े-मेढ़े-रास्ते` (१९४६), `भूले-बिसरे चित्र` (१९५९) के बाद वर्मा जी का `सीधी सच्ची बातें` (१९६८) (१९३९ से लेकर भारत की स्वतन्त्रता और गांधीजी की हत्या तक) एक प्रौढ़ एवं सशक्त उपन्यास है । इन तीनों उपन्यासों में १८८५ से लेकर १९४८ तक के भारत की राजनीतिक, आर्थिक और कुछ-कुछ

सांस्कृतिक परिस्थितियों का परिचय मिल जाता है। इस उपन्यास में लेखक ने बताया है कि पूंजीपतियों ने अपनी थैली के बल पर किस प्रकार भारतीय राजनीति के सूत्र अपने हाथ में ले लिए थे और वे किस प्रकार कांग्रेस पर हावी हो गए थे और गांधी जी के आदर्शों की हत्या होने लगी थी। लेखक ने गांधीवादी राजनीति के साथ-साथ मार्क्सवादी प्रवृत्ति का भी परिचय दिया है और इस बात का स्पष्ट संकेत दिया है कि कम्युनिस्टों में एक वर्ग तो उन कार्यकर्ताओं का है जो राजनीति में शौकिया भाग लेते हैं, किन्तु पूंजीपतियों के एजेंट बने रहते हैं, जैसे कमलाकान्त, जगवन्त, कुलसुम, त्रिभुवन, मालती आदि। दूसरी ओर जगतप्रसाद और जमील हैं जिन्होंने जीवन-संघर्ष और कटुता से जूझते हुए मार्क्सवाद अपनाया है। मुसलमानों का उल्लेख करते हुए वर्मा जी ने बताया है कि मुसलमान चाहे कांग्रेसी हों या कम्यूनिस्ट वे मूलतः रहते मुसलमान ही हैं। उनकी राष्ट्रीयता 'Skin deep' होती है। जिन्ना ने मौलाना आजाद को कांग्रेस का 'Show boy' कहा भी था। इसके अतिरिक्त इस उपन्यास में द्वितीय महायुद्ध (१९३९- १९४५) के फलस्वरूप कांग्रेस का विरोध, कम्युनिस्टों द्वारा युद्ध को जन-युद्ध कहना, 'भारत छोड़ो आन्दोलन', हिटलर की पराजय, इंग्लैण्ड की जीत के फलस्वरूप भारतीय राजनीति के सम्बन्ध में अनेक दृष्टिकोणों में परिवर्तन, सुभाष बोस के नेतृत्व में आज़ाद हिन्द फौज (INA) का संगठन, वरिष्ठ कांग्रेसी नेताओं की जेल से रिहाई, गांधी जी के आदर्शों के अच्छे-बुरे पहलू, कांग्रेसी नेताओं और मुस्लिम लीग के नेता जिन्ना में मतभेद, स्वतंत्रता प्राप्ति, भारत-विभाजन और गांधी जी की हत्या आदि का उल्लेख हुआ है। इसमें देश में व्याप्त साम्प्रदायिक भावना को स्थान मिला है। सभी राजनीतिक वादों और आन्दोलनों के प्रति लेखक का तटस्थ दृष्टिकोण है।

नाटककार होने के अतिरिक्त लक्ष्मीनारायण लाल उपन्यासकार भी हैं। 'धरती की आँखें' (१९५१) 'बया का घोंसला और सांप' (१९५३ ?)

काले फूल का पौधा (?) , `रूपा जीवा ` (१९५९ ?) और `बड़ी चम्पा छोटी चम्पा ` (१९६१) उनके उपन्यास हैं । अन्तिम उपन्यास वेश्या-जीवन पर आधारित रचना है । शेष में ग्रामीण जीवन या प्राचीन और नवीन मूल्यों का संघर्ष या पूंजीवाद की विकृतियाँ, जमींदारी-प्रथा की नृशंसता का चित्रण हुआ है । उन पर साम्यवादी विचारधारा का प्रभाव मिलता अवश्य है, किन्तु धीरे-धीरे वे अपने को उस प्रभाव से मुक्त करते गये हैं । `धरती की आँखें` में उन्होंने सामन्ती व्यवस्था का उन्मूलन करने में संघर्षरत विद्रोहाग्नि का चित्रण किया है और दम तोड़ती हुई जमींदारी-प्रथा के साथ-साथ बेचारे किसानों पर किये गए अत्याचारों को भलीभाँति निरूपित किया है । `रूपाजीवा` उपन्यास में द्वितीय महायुद्ध के समय ज़ोर पकड़ते हुए राष्ट्रीय आन्दोलन और भारतीय पूंजीवादियों और अंग्रेजों के गठबन्धन, कंट्रोल की आड़ में चोरबाजारी और रिश्वतखोरी का चित्रण हुआ है । उन्होंने बताया है कि देश के संकट के समय में भी पूंजीपतियों के काले कारनामें रुकते नहीं हैं और वे किस प्रकार राजनीति को कलंकित करने और जनजीवन में संकट उपस्थित करने में सहायक सिद्ध होते हैं । यज्ञदत्त शर्मा कृत `विचित्र त्याग` (?) उपन्यास के बाद अनेक उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं । उनके `दो पहलू `)?) में देश की १९३०-३१ की राजनीतिक समस्याओं को समेटा गया है । इनके `इंसान ` (?) नामक उपन्यास का कथानक १९४७ के भारत-विभाजन पर आधारित है । लेखक ने देश की राजनीतिक पार्टियों की कार्य-प्रणाली की टीका-टिप्पणी की है । `निर्माण पथ ` (१) में उन्होंने विध्वंसात्मक राजनीतिक गतिविधियों के स्थान पर स्वतंत्रता-प्राप्त राष्ट्र के संगठित और समुन्नत होने का संदेश दिया है । `अन्तःकरण` (?) में उन्होंने राजनीतिक दलों की खिल्ली उड़ाई है । राजनीतिक पार्टियाँ स्वार्थग्रस्त हैं । `मकान और मकान`(?) में उन्होंने उद्योग-धन्धों की चर्चा की है ।`भारत सेवक ` (?) में भारत सेवक राजनीतिक आकांक्षाओं से अलग रहता है । `स्वप्नखिल उठा ` में १९४७ से १९५२ तक की राष्ट्रीय चेतना का लेखा-जोखा है । उनके `स्वप्न खिल उठा `

उपन्यास में अंग्रेजों की साम्राज्यवादी नीति के फलस्वरूप विभिन्न राजनीतिक आन्दोलनों का उल्लेख हुआ है जिनका सूत्रपात १८५७ के विद्रोह से होता है। लेखक ने १८५७ के विद्रोह को भारतीय स्वतन्त्रता-संघर्ष का प्रथम चरण माना है। यही भावना राष्ट्रीय जन-जीवन में, देश के राजनीतिक जीवन में, क्रान्ति उत्पन्न कर सकी थी। लेखक ने इस बात की ओर संकेत किया है कि राजा-राम मोहनराय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द आदि के द्वारा जहाँ एक ओर सामाजिक रूढ़ियों पर प्रहार किये गए, वहाँ दूसरी ओर देश में राजनीतिक चेतना भी उत्पन्न हुई जिसकी अन्तिम परिणति कांग्रेस द्वारा संचालित आन्दोलन के अन्तर्गत तिलक और महात्मागांधी जैसे नेताओं द्वारा संचालित स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिये संघर्ष के रूप में हुई। उन्होंने आतंकवादी आन्दोलन का भी उल्लेख किया है जिसके तत्वावधान में राजनीतिक हिंसा होती थी। अंग्रेज सरकार ने भारत को 'होमरूल' देने का और उसे साम्राज्य के अन्दर रखने का वचन दिया था। परन्तु प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के बाद सरकार ने अपने वचन का पालन न किया और १९२०-२१ में असहयोग आन्दोलन और खिलाफत आन्दोलन ने मिलकर (रौलेट एक्ट) के विरुद्ध राजनीतिक आन्दोलन शुरू किया और जलियांवाला बाग हत्याकाण्ड घटित हुआ। लेखक ने द्वितीय महायुद्ध के छिड़ जाने और कांग्रेस के बढ़ते हुए आन्दोलन और 'भारत छोड़ो' आन्दोलन का तथा अंग्रेजों की दमन - नीति का उल्लेख किया है।

उपर्युक्त लेखकों के अतिरिक्त रामदरश मिश्र ने अपने 'पानी के प्राचीर' उपन्यास में अनेक राजनीतिक आन्दोलनों का वर्णन किया है और साथ ही जमींदारी प्रथा का अन्त और भारत-छोड़ो आन्दोलन का भी उल्लेख किया है। लेखक ने राष्ट्रीय भावना का आश्रय ग्रहण कर अन्याय और अत्याचार को दूर करने के लिये हिंसा की जरूरत नहीं समझी। इस उपन्यास में १९४७ की स्वतन्त्रता का भी उल्लेख हो गया है और पांडे पुरवा नामक गांव की कथा द्वारा लेखक ने आत्मनिर्भरता अस्पृश्यता-मूलक जाति-पाँति

को दूर करने पर बल दिया है । १९६२ ई० में लिखित नरेश मेहता का `यह पथ बन्धु था` एक महत्वपूर्ण उपन्यास है । इस उपन्यास में लेखक ने जहाँ एक ओर श्रीनाथ ठाकुर कीर्तनिया के परिवार के टूटने और श्रीधर के पूरी तरह से विघटित होने का चित्रण किया है, वहाँ श्रीधर का इन्दौर में आतंकवादी कार्यकर्ताओं के साथ हो जाना और फिर काशी पहुँचकर अपने राजनीतिक सम्बन्धों के कारण कारावास दण्ड प्राप्त करना उपन्यास में कुछ राजनीतिक वातावरण उत्पन्न करता है । इसमें बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध (१९२० से १९४५ तक) का जीवन है । श्रीधर राष्ट्रीय आन्दोलन का विराट आदर्श पाने की चेष्टा करता है । उपन्यासकार उस व्यवस्था को समूल नष्ट करना चाहता है जिसके अन्तर्गत मनुष्य पिस रहा है । लेखक ने श्रीधर के माध्यम से इतिहास पर दृष्टिपात किया है और वह कहता है कि मानव युद्ध का पर्याय है । नीति, धर्म, अवतारी पुरुष, राजनीति, विज्ञान, सब युद्ध-भाव को, युद्ध-कौशल को विभिन्न नामों से विभिन्न युगों में इंगित करते आये हैं । श्रीधर के द्वारा उपन्यास में यत्र-तत्र जिस राजनीति का उल्लेख हुआ है उससे न तो किसी सैद्धान्तिक आन्दोलन का चित्र उभरता है और न किसी विशेष दल की राजनीति उभर कर सामने आती है । लेखक की दृष्टि श्रीधर जैसे लघु मानव के विघटित होते हुए व्यक्तित्व पर केन्द्रित रही है । उनके `दो एकान्त` में मध्यम वर्ग का आत्म-संकट व्यक्त हुआ है । लेखक ने एक व्यक्ति के माध्यम से बदलते हुये मानवीय-सम्बन्धों, राजनीतिक संस्थाओं आदि के खोखलेपन की ओर इंगित किया है । शमशेर सिंह नरूला के उपन्यास `एक पंखुड़ी की तेज धार` में स्वतन्त्रता-पूर्व देश की बदलती हुई राजनीति का वर्णन हुआ है और लेखक ने १९४८ में गांधी जी की हत्या तक की राजनीति का वर्णन किया है । देवीदयाल चतुर्वेदी के `संकल्प` उपन्यास में लेखक के आदर्शवादी दृष्टिकोण द्वारा गांधी जी द्वारा संचालित विविध आन्दोलनों का भी उल्लेख हुआ है, जैसे पूंजीवादी आन्दोलन, मुस्लिम लीगी

नीति, साम्राज्यवादी नीति, स्वराज्य आन्दोलन इत्यादि । रामकुमार भ्रमर के उपन्यास `फौलाद का आदमी` में कथानक १८५७ के विद्रोह पर आधारित है और लेखक ने उसे स्वतंत्रता-संग्राम और क्रान्ति के नाम से पुकारा है । इस उपन्यास में लेखक ने यह स्थापित किया है कि १८५७ का विद्रोह अन्याय के विरुद्ध न्याय का धर्मयुद्ध था, देशभक्तों द्वारा परतंत्रता से मुक्ति प्राप्त करने का महान् प्रयास था । उस वक्त देशभक्त अपनी आकांक्षायें पूर्ण करने के लिये कटिबद्ध हो गये थे और अंग्रेजों की राजनीति को विफल करना चाहते थे । यद्यपि उसके पीछे कोई निश्चित योजना नहीं थी, तो भी देशी रियासतों ने मिलकर क्रान्ति की लहर फैलाई और फिरंगियों की देशी रियासतों को हड़पने की राजनीति को विफल करने की चेष्टा की । महावीर अधिकारी के `मंजिल से आगे` उपन्यास में दिवाकर के माध्यम से स्वतन्त्रता-पूर्व विभिन्न आन्दोलनों का उल्लेख हुआ है । दिवाकर पूंजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध आवाज उठाता है और राष्ट्र-निर्माण-सम्बन्धी अपना चिन्तन व्यक्त करता है । स्वतन्त्रता-पूर्व भारत की एक ही घटना को लेकर तीन उपन्यास लिखे गये । अमृतलाल नागर कृत `महाकाल` (१९४३), रांगेय राघव कृत `विषाद मठ`, प्रतापनारायण श्रीवास्तव कृत `बयालीस के बाद`, इन उपन्यासों का सम्बन्ध बंगाल की अकाल पीड़ित जनता से है । लेखकों ने मानवतावादी दृष्टिकोण व्यक्त करते हुए पूंजीवादी-सामंतवादी गठबन्धन की तीव्र आलोचना की है । ब्रिटिश सरकार की कूटनीति की भी आलोचना की गई है । बंगाल के मुस्लिम मंत्रिमंडल पर भी छींटे कसे गये हैं । समाजवादी या कम्यूनिस्ट विचार-धारा भी उनमें स्थान पा गई है । इनके अतिरिक्त `उग्र` के `फागुन के दिन चार` (?) में १९२१ के आसपास की राजनीतिक गतिविधियों की ओर व्यंग्य के माध्यम द्वारा संकेत दिया है । उसमें जेल के जीवन का विशद चित्रण, जलियांवाला बाग के भीषण हत्याकांड का उल्लेख हुआ है । शिवप्रसाद मिश्र `रुद्र` कृत `बहती गंगा` (१९५७) में

काशी के लगभग दो सौ वर्षों की सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक चेतना की कहानी है। यह कहानी १७५० से १६५० तक की कहानी है।

राही मासूम रज़ाकृत `आधा गांव` (१) गंगोली के शिया मुसलमानों को लेकर लिखा गया है। उनके जीवन में बहुत-से पुराने-नये लफड़े हैं। उनमें आधापन है। रूढ़ियों के खोखलेपन को लिये हुये वे आधुनिक जीवन व्यतीत करना चाहते हैं। समष्टिगत जीवन की हिमायत करने वाले मियां लोग व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं छोड़ पाते। टूटता-बिखरता हुआ यह आधा गांव जब अपने बदसूरत अवशेषों को लिए हुए दम तोड़ रहा है, तो देश नई करवट लेता है जिसके साथ भारत विभाजन का अध्याय जुड़ा हुआ है, जिसके सन्दर्भ में लेखक ने हिन्दू महासभावादियों और मुस्लिमलीगियों के कारनामों का उल्लेख किया है। उनके कारनामों से गंगोली गांव का जीवन विषाक्त हो उठता है। तन्नू के मुंह से लेखक लीगियों की करतूतों पर सीधा वार करता है। गंगोली की भोजपुरी को लीगी समझ भी नहीं पाते थे। तन्नू के अनुसार लीगियों ने उर्दू को भी मुसलमान बना दिया है। पाकिस्तान बन जायेगा, लेकिन उर्दू यहीं रह जायगी। राजनीति के फलस्वरूप उत्पन्न नफ़रत और खौफ ने मानव-सम्बन्धों के बीच दीवाल खड़ी कर दी है। क्या मुसलमान भारत को अपना वतन नहीं मानते? इसी तरह कुम्मन मियाँ मातादीन जैसे हिन्दू महासभाइट के स्वार्थी इरादों को भांपकर उसके नफ़रत भरे व्यक्तित्व में झांकता है। तन्नू-कुम्मन देखते ही रह गये विभाजन की भयंकरता ने गंगोली की लय में एक दरार डाल दी। दिल्ली और अमृतसर के बीच जो रक्तपात हुआ, मानवता की जो हत्या हुई उसका भी लेखक ने उल्लेख किया है। विभाजन ने देश में नये सवालों को जन्म दिया। गंगोली गांव के लोग फिर भाषा और मिट्टी की अमरता का अनुभव करने लगे। गंगोली केवल इतिहास के केवल भूगोल की भाषा उभारता है, इसलिए `आधा गांव` को आंचलिक भी कहा जाता है। यहाँ के शिया मुसलमान सब

अर्थ में मुसलमान नहीं हैं कि वे हिन्दू नहीं है। हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य, उर्दू की हिमायत, लीगी मनोवृत्ति, हिन्दुस्तान से बाहर के मुसलमानों के साथ लगाव आदि बातें उनके लिये निरर्थक हैं। वे मुसलमान हैं, लेकिन सिर्फ गंगोली के जहाँ की मिट्टी कुवाम और तहज़ीब से उन्हें उन्हें बेहद प्यार है। परिवर्तन के दुर्निवार चक्र में वे सही बिन्दु पर अपने को खड़ा कर सकने में असमर्थ पाते हैं, यही ठीक है और इसीलिये वहाँ के लोग आधे हैं।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि उपर्युक्त उपन्यासकारों ने अपनी-अपनी औपन्यासिक कृतियों में स्वतन्त्रता-पूर्व भारतीय राजनीति के विविध पक्षों को, अंग्रेजी साम्राज्य-विरोधी कांग्रेस के तत्वावधान में राष्ट्रीय संघर्ष के विविध पक्षों को पाठकों के सामने प्रस्तुत किया है। सम्यक् दृष्टि से विचार करने पर ये सब उपन्यास स्वतंत्रता आन्दोलन के विविध पक्षों और देशप्रेम की भावनाओं से ओतप्रोत हैं। एक बात जो सबसे पहले सामने आती है वह यह है कि इन उपन्यासकारों ने मध्यम वर्ग को राजनीतिक चेतना का माध्यम बनाया है, क्योंकि यह वर्ग ही नव-शिक्षा-प्राप्त और नवीन चेतना से ओत-प्रोत था, यूरोपीय विचार - धारा से प्रभावित था, भारतीय तथा यूरोपीय इतिहास का ज्ञाता था और सबसे बड़ी बात यह थी कि यही वर्ग साम्राज्यवादी और पूंजीवादी चक्की के दो पाटों में पिस रहा था। यह वर्ग अपनी राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक चेतना से प्रेरित हो राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय भाग ही नहीं ले रहा था, वरन् देश के कोने कोने में अनेक यातनायें और कष्ट सहते हुए भारत की राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिये संघर्षरत था।

मध्यमवर्गीय चेतना के अतिरिक्त उपर्युक्त उपन्यासों में किसान आन्दोलनों का भी उल्लेख हुआ है। ग्रामवासियों की निर्धनता देखकर ही

गांधी जी ने तकली, चरखा और खादी का कार्यक्रम देश के सामने रखा था। वर्ष में छः महीने किसान बेकार रहता था। इन छः महीनों में वह चरखे से खादी का सूत कातकर धनोपार्जन कर सकता था। इसलिये उपर्युक्त विभिन्न उपन्यासों में किसानों के लिये खादी के आर्थिक पक्ष की ओर संकेत किया गया है। उस समय के सात लाख गांवों की जनता में छिपी हुई महाशक्ति से देश के भीतरी-से-भीतरी कोने में उत्पन्न राजनीतिक चेतना के उल्लेख उपर्युक्त उपन्यासों में मिलते हैं। १९१७-१८ की रूसी क्रान्ति ने किसानों में और भी जागृति उत्पन्न कर दी थी। उन्होंने अनेक सभायें और समितियाँ बनाई थीं और वे अपने स्वत्वों के लिये संघर्ष करने के लिए कटिबद्ध हो गये थे। उपर्युक्त उपन्यासकारों ने यह भी बताया है कि अंग्रेज सरकार ने किस प्रकार देशी रियासतों में राजा-महाराजाओं द्वारा किसान आन्दोलनों का दमन करने की नीति अपनाई थी। किन्तु किसानों का संघर्ष रुका नहीं। हिन्दी के उपन्यासकार भी इन संघर्षों की उपेक्षा न कर सके। इन संघर्षों का सजीव चित्रण प्रेमचन्द पीढ़ी के उपन्यासों में तो हुआ ही था, स्वातंत्र्योत्तर काल के उपन्यासकार भी जमींदारों की शोषण नीति और किसानों के संघर्ष की उपेक्षा नहीं कर सके हैं। जोंक की तरह किसानों को चूसने वाले जमींदारों और ब्रिटिश सरकार के विभिन्न कारिन्दों के विरुद्ध राष्ट्रीय आन्दोलन के तत्वावधान में किसानों ने जो संघर्ष किया उसे तत्कालीन राजनीतिक चेतना का ही प्रमुख आयाम माना जायगा। १९२१-२२ में उत्तर प्रदेश में पहला किसान आन्दोलन चला था। १९२८ गांधी जी के नेतृत्व में 'बारदोली किसान आन्दोलन' और फिर 'नमक सत्याग्रह आन्दोलन' (१९३० - ३२) राजनीतिक चेतना उत्पन्न करने के ऐसे उपयोगी साधन सिद्ध हुए जिनसे ब्रिटिश शासन भी थर्रा उठा था। इन आन्दोलनों से जन चेतना का मतलब था राजनीतिक चरमसीमा। इन आन्दोलनों से कांग्रेस की राजनीति को बल मिला था।

उपर्युक्त उपन्यासों में लेखकों ने इस बात की ओर भी संकेत किया है कि आतंकवादियों के हिंसात्मक आन्दोलन देश की स्वतंत्रता के हित में नहीं थे। कुछ अंग्रेज व्यक्तियों या सरकारी कर्मचारियों की हत्या में उन्हें विश्वास नहीं था। वे गांव गांव में राजनीतिक क्रान्ति की रणभेरी सुनना चाहते थे ताकि गांवों का लड़खड़ाता हुआ जीवन संभल सके। कुछ उपन्यासकारों ने भूमि के राष्ट्रीयकरण की चर्चा भी की है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार प्रेमचन्द ने अपने `प्रेमाश्रम` उपन्यास में मायाशंकर द्वारा जमींदारी उन्मूलन का उल्लेख किया था। भगवतीचरण वर्मा ने अपने `टेढ़े-मेढ़े रास्ते` में किसानों की विपन्नावस्था का चित्रण किया है।

जिस प्रकार ऋषभचरण के `सत्याग्रह` उपन्यास पर गांधी जी के राष्ट्रीय आन्दोलन का पूरा प्रभाव है और जिस प्रकार उन्होंने गांधी जी और जनरल स्मट्स के बीच दक्षिण अफ्रीका की घटनाओं का वास्तविक चित्र प्रस्तुत किया है उसी प्रकार अन्य उपन्यासकारों ने भी गांधी जी के अहिंसात्मक सत्याग्रह आन्दोलन और ब्रिटिश सरकार की दमन नीति के फलस्वरूप जेलों में ठूंसे गए और ब्रिटिश सरकार की संगीनों के निशान बने भारतवासियों की दयनीय दशा और स्त्रियों द्वारा जेल-यातना सहन करने की गाथा गाई है। प्रसंगवश इन उपन्यासों में कम्यूनिस्ट विचार धारा से प्रभावित क्रान्तिकारी आन्दोलनों का भी उल्लेख हुआ है। कम्यूनिस्ट प्रभाव के फलस्वरूप विभिन्न ट्रेड यूनियनों या मजदूर संगठनों का भी उल्लेख हुआ है, किन्तु व कम्यूनिस्टों द्वारा संगठित मजदूर आन्दोलनों को बहुत कम उपन्यासकारों का समर्थन प्राप्त हुआ है। वैसे भी स्वतन्त्रता-पूर्व भारत में औद्योगीकरण की कम प्रगति होने के कारण लोगों का ध्यान किसानों पर ही अधिक केन्द्रित रहता था।

प्रेमचन्द ने `रंगभूमि` (१९२७) में देशी रियासतों में भी प्रचलित सत्याग्रह आन्दोलनों के रूप में राजनीतिक चेतना का उल्लेख किया था। सूरदास का चरित्र भी एक आदर्शवादी सत्याग्रही के रूप में ही चित्रित किया गया था। सूरदास के स्वर में महात्मा गांधी का स्वर प्रतिध्वनित होता है। किन्तु

आलोच्यकालीन उपर्युक्त उपन्यासों में देशी रियासतों के राजनीतिक आन्दोलनों का कम उल्लेख हुआ है। सम्भवत: इसका कारण यह रहा हो कि स्वतन्त्रता काल में देशी रियासतों का अस्तित्व नष्ट हो जाने के कारण उपन्यास लेखकों का ध्यान स्वतंत्रता पूर्व देशी रियासतों की ओर न गया हो।

स्वतन्त्रता-काल में लिखे गए उपन्यासों में उन देशभक्तों का भी चित्रण हुआ है जिन्होंने सरकारी नौकरियां और वकालत छोड़कर जेल यात्रायें कीं। इन उपन्यासों में उस आदर्श भारतीय नारी का भी चित्रण हुआ है जिसने देश की बलिवेदी पर अपना व्यक्तिगत जीवन भी निछावर कर दिया। एक तथ्य यह भी सामने आता है कि स्वतंत्रता से पूर्व राष्ट्रीय जीवन में धनाढ्य परिवारों के युवक-युवतियों ने भी सक्रिय भाग लिया। अध्यापक और विद्यार्थी शिक्षा संस्थायें छोड़कर राजनीतिक आन्दोलन में भाग लेने निकल पड़े। अनेक युवक-युवतियां कम्युनिस्टों द्वारा संचालित राजनीतिक आन्दोलनों में भाग लेने के पश्चात् निराश होते हुए चित्रित किये गए हैं क्योंकि उनकी अन्तरात्मा कम्युनिस्ट राजनीति का समर्थन करने की प्रेरणा नहीं देती थी।

उपर्युक्त उपन्यासों में गांधी जी द्वारा प्रचलित व्यक्तिगत सत्याग्रह और 'भारत छोड़ो' आन्दोलन का भी उल्लेख हुआ है। इन राजनीतिक आन्दोलनों का ध्येय भी स्वतंत्रता-प्राप्त करना था। समाजवादी या मार्क्सवादी दल यद्यपि आर्थिक विषमता, सामाजिक अन्याय और किसान-मजदूरों के शोषण के विरुद्ध कार्य कर रहे थे, तो भी वे भारतीय पराधीनता के प्रति वही दृष्टिकोण रखते थे, जो राष्ट्रीय संस्था कांग्रेस का दृष्टिकोण था। उनके साधन अवश्य भिन्न थे। वे हिंसा या राजनीतिक डकैतियां डालने पर भी उतारू हो जाते थे। तो भी उनका अन्तिम लक्ष्य भारत को स्वतंत्र कराना था। इधर के कुछ उपन्यासों में ऐसे पात्रों का भी चित्रण हुआ है जो प्रारम्भ में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए हिंसात्मक कार्यवाहियों में विश्वास करते

थे, किन्तु बाद में जिन्हें अपनी नीति बदलनी पड़ी और वे भी कांग्रेस के राष्ट्रीय आन्दोलन के समर्थक बन गये ।

कुछ उपन्यासों में दुर्भिक्षों और भूख से पीड़ित व्यक्तियों का भी चित्रण हुआ है । अंग्रेजों की यह कूटनीति थी कि लोगों को भूखा मारकर उनमें नैतिक पतन उत्पन्न करें ताकि वे राजनीतिक आन्दोलनों में भाग लेने योग्य न रह जायें । भारत के पूंजीपति लोग इस कार्य में अंग्रेजों की सहायता करते थे । अंग्रेजों की राजनीति पेट पर लात मारने की राजनीति बन गई थी । इस प्रसंग में उपन्यासकारों ने देश के साथ गद्दारी करने वाले `मीरजाफरों` का उल्लेख भी किया है ।

वास्तव में स्वतन्त्रता - पूर्व राजनीति का उल्लेख करने में इन लेखकों ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि ब्रिटिश सरकार किस प्रकार भारतीय सामन्तों और पूंजीपतियों के साथ गठबन्धन कर नवचेतना प्राप्त भारत की राजनीतिक आकांक्षाओं को कुचल देना चाहती थी । कुछ पात्र धनाढ्य घरों के होते हुए भी समाजवादी विचारधारा से प्रभावित होते दिखाए गये हैं --केवल इसीलिये कि वे साम्राज्यवादी और पूंजीवादी कारागार में भारतीय जन को तड़पते हुए देखना नहीं चाहते थे । उनमें यह विश्वास पैदा हो जाता है कि जब तक पूंजीवाद का नाश नहीं हो जायगा तब तक भारतीय मानव का कल्याण न हो सकेगा । पूंजीपति ही मजदूरों के संगठन तोड़ते थे, उन्हें तरह-तरह के प्रलोभन देते थे, उनकी वैध मांगें ठुकरा देते थे । उनमें तरह तरह के नये व्यसन पैदा करने की कोशिश करते थे, पुलिस, सरकारी अधिकारियों और न्यायालयों की सहायता प्राप्त करते थे । ये नवयुवक और नवयुवतियां इसीलिये साम्राज्यविरोधी हो जाती थीं और वे अपने दृष्टिकोण से राजनीति संचालित करती थीं । गांधी जी के `भारत छोड़ो` आन्दोलन में भी ऐसे अनेक नवयुवकों ने भाग लिया जो उच्चवर्ग और मध्यम वर्ग के थे, किन्तु जिन्हें गांधीवादी विचारधारा के सत्य अहिंसा और त्याग के

आदर्शों में विश्वास था । किसानों और मजदूरों की हड़तालें भी शांतिपूर्ण ढंग से कराई जाती थीं । १९३२ के सत्याग्रह आन्दोलन से लेकर १९३६ में कांग्रेस मंत्रिमंडल के स्थापित होने के समय तक भारत में इन्हीं शिक्षित वर्ग के नवयुवकों द्वारा एक समाजवादी दल की स्थापना हो चुकी थी और देश की बलिवेदी पर शान्तिपूर्ण ढंग से आत्मोत्सर्ग करने वाले नवयुवकों की संख्या दिन-पर-दिन बढ़ती जाती थी और राजनीतिक क्रान्ति की आवाज़ दिन-पर-दिन तेज होती जा रही थी । उपर्युक्त उपन्यासों में ऐसे ही नवयुवकों की काफी बड़ी संख्या में भेंट होती है । यह नवयुवक ही गली-गली और कूचे-कूचे में अपनी जान हथेली पर रखकर लोगों में अहिंसा और शान्ति का प्रचार करते थे । स्वतंत्रता काल में लिखे गये हिन्दी उपन्यासों में 'स्वतन्त्रता-संग्राम का जीता जागता चित्र मिल जाता है । आंचलिक उपन्यासों तक में कांग्रेस, सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट आन्दोलनों की गूंज है । उनमें स्वतंत्रता की प्राप्ति तक के राजनीतिक जीवन के चित्र अंकित हैं ।

सन् १९४७ के पूर्व भारतीय राजनीतिक चेतना का उत्तर ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने भेदनीति ग्रहण कर दिया । भेदनीति उनकी कूटनीति का प्रधान अंग था । इस नीति का अवलम्बन ग्रहणकर वे भारतीय राजनीतिक वातावरण को विषाक्त कर देना चाहते थे । उन्होंने नगरनिवासियों और ग्रामवासियों में, सवर्ण हिन्दुओं और हरिजनों में, व्यापारी वर्ग में और जन सामान्य जनता में, उद्योगपतियों और सामान्य व्यापारियों में तथा अन्य वर्गों में परस्पर भेद उत्पन्न कर देश को वर्ग-विभाजित करने और उसकी संगठित शक्ति को कमज़ोर बनाने की चेष्टा की । उपन्यासकारों ने अंग्रेजों की इस नीति का निरूपण अपनी रचनाओं में किया है । अंग्रेज सरकार ने हिन्दू समाज को ही पृथक निर्वाचन पद्धति द्वारा अनेक टुकड़ियों में बांटने की चेष्टा नहीं की, वरन् हिन्दू और मुसलमानों को राजनीतिक दृष्टि से अलग रखने की भरसक सफल चेष्टा की । हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता के बीच

मूलत: देश की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में निहित थे जिसकी प्रतिक्रिया हिन्दी-उर्दू संघर्ष और आये दिन हिन्दू-मुस्लिम दंगों में दृष्टिगोचर होती थी । इस भेदभावों का अंग्रेजों ने राजनीतिक दृष्टि से दुरुपयोग किया । हिन्दू-मुसलमानों के सामाजिक भेदभाव से राजनीतिक एकता को धक्का पहुँचता था और अंग्रेज साम्राज्यवादी उससे लाभ उठाते थे । राजनीतिक दृष्टि से अंग्रेज साम्प्रदायिक निर्णय लेते थे जिनसे न तो हिन्दुओं को लाभ पहुँचता था और न मुसलमानों को । केवल अंग्रेजी राज्य की नींव मजबूत होती थी ।

ईसा की नवीं-दसवीं शताब्दी में भारत में मुसलमानों का आगमन प्रारम्भ हो गया था । तब से लेकर अंग्रेजों के भारत-आगमन तक हिन्दुओं और मुसलमानों के परस्पर सम्बन्धों में उतार-चढ़ाव होते रहे । प्रारम्भ में तुर्कों और पठानों ने जो धार्मिक और राजनीतिक कट्टरता प्रदर्शित की थी वह धीरे धीरे कम होती जा रही थी । मुगलों के समय में भी यह कट्टरता कम हुई । राजपूत नरेशों और मुसलमान शासकों में जो परस्पर सम्बन्ध स्थापित हुए थे उनका आधार राजनीतिक ही अधिक था । अंग्रेजों ने जब अपना राज्य स्थापित किया तो उन्होंने हिन्दू और मुसलमानों का अलगाव देखा और समझा तथा उसे उन्होंने अपनी कूटनीति का साधन बनाया । उन्होंने जो इतिहास पढ़ाया उसमें भी हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य पर अधिक बल दिया । राष्ट्रीय आन्दोलन का दमन करने की दृष्टि से अंग्रेज मुसलमानों के सामने राजनीतिक अधिकारों का चारा डालते थे । अंग्रेजों ने उन्हें पृथक् निर्वाचन, विशेषाधिकार और सरकारी नौकरियों में उनका प्रतिनिधित्व देकर उन्हें सन्तुष्ट करना चाहा । भारतीय स्वतन्त्रता के लिये कटिबद्ध इण्डियन नेशनल कांग्रेस ने पृथक् निर्वाचन का विरोध किया और इसे राष्ट्रीय एकता के लिये घातक समझा । इण्डियन नेशनल कांग्रेस राजनीतिक क्षेत्र में उदारता व सहानुभूति को स्थान देकर साम्प्रदायिक समस्या, विशेष रूप से हिन्दू-मुस्लिम समस्या, सुलझाना चाहती थी । धर्म के आधार पर नहीं, वरन्

राष्ट्रीयता के आधार पर वह देश को एकता के सूत्र में बांधे रखना चाहती थीं । राष्ट्रीय एकता के लिये , मुसलमानों को ही नहीं ,बल्कि सिक्खों, पारसियों, ईसाइयों तथा अन्य अल्पसंख्यक जातियों को एक संगठित योजना में बद्ध हो जाना आवश्यक था । जो बातें हिन्दुओं और मुसलमानों के लिये कही गयी थीं वही बातें हिन्दुओं और पारसियों या ईसाइयों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती थीं । राष्ट्रीय तत्व जैसे मुसलमानों में थे वैसे ही ईसाइयों या पारसियों में भी थे ।

अंग्रेजों ने तो हरिजनों को भी राजनीतिक दृष्टि से हिन्दुओं से अलग करने की भरसक चेष्टा की । किन्तु डाक्टर अम्बेडकर जैसे उच्चकोटि के शिक्षित और दूरदर्शी नेता ने तथा गांधीजी ने हरिजनों के पृथक् निर्वाचन का घोर विरोध किया । गांधी जी ने आमरण अनशन तक किया । वे तो हरि-जनों के नाम से हिन्दू धर्म पर लगे कलंक को ही मिटा देना चाहते थे ।

वास्तव में हिन्दुओं और अहिन्दुओं का संयुक्त निर्वाचन या पृथक् निर्वाचन राजनीतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण था । अंग्रेजों ने अपनी स्वार्थपूर्ण दृष्टि से प्रेरित होकर भेदनीति का आश्रय ग्रहण कर पृथक् निर्वाचन को प्रश्रय दिया । पृथक् निर्वाचन के अन्तर्गत देश का कल्याण नहीं हो सकता था । लोकतंत्र की संयुक्त निर्वाचन पद्धति द्वारा ही देश का कल्याण सम्भव था । मुसलमानों की धार्मिक विपन्नता ने अंग्रेजों की भेदनीति को सहारा दिया । यद्यपि राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत कुछ मुसलमानों को अंग्रेजों की भेदनीति में विश्वास नहीं था, तो भी अधिकांश मुसलमान मुस्लिमलीग के ही साथ थे और इस प्रकार महात्मा गांधी और इण्डियन नेशनल कांग्रेस के बावजूद हिन्दू मुस्लिम एकता की समस्या बनी रही और देश के जीवन में कटुता के बीज बोए जाते रहे । अंग्रेजों की नीति इस सम्बन्ध में खूब फली-फूली । वास्तव में हिन्दू-मुस्लिम समस्या का आधार धार्मिक कभी नहीं रहा । वह विशुद्ध राजनीतिक समस्या रही है --जिसे धार्मिक आवरण में अवश्य प्रस्तुत किया जा रहा है । अंग्रेजों की

चाल सफल हुई और दुर्भाग्यवश देश का विभाजन हो गया । ऐसे उपर्युक्त उपन्यासकारों में, उदाहरणार्थ, बलभद्रठाकुर, ब्रजभूषण जैन, गुरुदत्त, विष्णु प्रभाकर, उपेन्द्रनाथ अश्क, भगवतीचरण वर्मा ने संक्षेप में या विस्तार से हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता और वैमनस्य के सन्दर्भ प्रस्तुत किये हैं जिनके अनुसार लेखक इस बात की ओर संकेत करते हैं कि अंग्रेजों की भेदनीति ने किस प्रकार राष्ट्रीय जीवन में कटुता उत्पन्न की, जटिलतायें उत्पन्न की, अपना स्वार्थ सिद्ध किया और किस प्रकार मुसलमान राष्ट्रीय जीवन से कटते गए ।

स्वतन्त्रता-काल में लिखे गये उपन्यासों में, इस प्रकार, स्वतन्त्रता से पूर्व की जिस राजनीति का चित्रण हुआ है उसमें विषमताओं, अत्याचारों, भारतीय स्वतन्त्रता की अवरोधक शक्तियों, संघर्ष का उल्लेख हुआ है । उन्होंने भारतीय स्वतन्त्रता को भारत के आत्मान्वेषण की एक प्रक्रिया माना है -- वह मात्र राजनीतिक नहीं है । उसमें संसार के लिये भारत का संदेश खोजा गया है । यह ठीक है कि इन उपन्यासों में स्वतंत्रता से पूर्व अंग्रेजों की दमन नीति, शोषण तथा भारतीय नौकरशाही के अत्याचारों के खिलाफ जो राजनीतिक आन्दोलन हुए उसमें गांधी जी और इन्डियन नेशनल कांग्रेस की भूमिका का विशेष महत्व है, किन्तु यह संघर्ष केवल राजनीति के स्तर पर ही नहीं था, वरन् उसमें गांधी जी के व्यक्तित्व द्वारा भारतीय संस्कृति का उज्ज्वलतम रूप उजागर होता हुआ मिलता है । इन उपन्यासों का यह पक्ष भी उपेक्षणीय नहीं है ।

अध्याय ४

स्वतन्त्रता-पूर्व वादयुक्त राजनीति

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों का दूसरा वर्ग, जैसा कि पिछले अध्याय में कहा जा चुका है, उन उपन्यासों का है जिनमें वामपंथी विचारधारा ग्रहण की गई है । सामान्यत: वामपंथ के अन्तर्गत साम्यवादी (कम्यूनिस्ट) और समाजवादी विचारधाराएं समझी जाती हैं और भारतवर्ष में दोनों विचारधाराओं का एक ही अर्थ में प्रयोग होता रहता है । भारतीय राज-नीति के सन्दर्भ में एक दल ऐसा है जो अपने को समाजवादी (सोशलिस्ट) दल कहता है और जो अपने को साम्यवादी या कम्युनिस्ट दल से अलग समझता है --यद्यपि दोनों के आर्थिक और किसान-मजदूरों से सम्बन्धित विचारों में थोड़ा सा साम्य रहता है । कम्युनिस्टों के आर्थिक-राजनीतिक विचार उग्र और तीखे होते हैं और वे रूस के मुखापेक्षी होते हैं । मार्क्स की दुहाई जितनी कम्यु-निस्ट देते हैं उतनी समाजवादी नेता नहीं देते । वैसे भी संसार में अभी कोई देश पूर्णरूपेण कम्युनिज़्म का आदर्श रूप प्रस्तुत नहीं करता । रूस भी यू०एस०एस०आर० अर्थात् 'यूनियन ऑफ सोवियत सोशलिस्ट रिपब्लिक्स' है, न कि 'कम्युनिस्ट -रिपब्लिक्स' । भारत में समाजवाद का जो नारा लगाया जाता है वह 'प्रजा-तांत्रिक समाजवाद' का नारा है जिसमें न तो कम्युनिस्टों की सैद्धान्तिक और वैचारिक कट्टरता है, न स्वतंत्र विचाराभिव्यक्ति पर नियन्त्रण और न व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अपहरण । 'प्रजातान्त्रिक समाजवाद' का केवल इतना ही तात्पर्य है कि आर्थिक विषमता दूर करने के लिए प्रजातांत्रिक ढंग अपनाए जायें । किन्तु अन्तर होते हुए भी दोनों विचारधाराएं वामपंथी

विचारधाराएँ कही जाती हैं। अपने को वामपंथी कहने वाले फॉरवर्ड ब्लाक जैसे अन्य कई छोटे-छोटे दल हैं, किन्तु भारतीय राजनीति में आज उनका स्थान नगण्य है। सामयिक भारतीय राजनीति में उनकी कोई महत्वपूर्ण भूमिका नहीं है।

वामपंथी लेखकों में कम्यूनिज़्म से प्रभावित लेखक ही परिगणित किए जाते हैं। किन्तु भारतीय राजनीतिक क्षेत्र में कम्यूनिज़्म में विश्वास करने वालों या उनसे वैचारिक सहगामिता रखने वालों की संख्या बहुत कम है। देश में अब तक जितने चुनाव हुए हैं उनमें कम्यूनिस्ट सांसदों या विधायकों की अत्यन्त न्यून संख्या इस बात की पुष्टि करती है। इसी अनुपात में वामपंथी उपन्यास-लेखकों की संख्या भी बहुत कम है।

ऊपर की बात इस रूप में प्रस्तुत की जा सकती है कि --संसार के सभी देशों में, और इसलिए भारतवर्ष में भी, राजनीतिक विचारधाराएँ दो दलों में विभक्त हैं जिन्हें दक्षिणपंथी और वामपंथी नाम से पुकारा जाता है। इन नामों के पीछे पूंजीवादी और साम्यवादी व समाजवादी विचार-धाराओं का संघर्ष रहा है। भारतवर्ष में स्वतन्त्रता- पूर्व की कांग्रेस में पूंजीवादियों द्वारा नियंत्रित दक्षिणपंथी विचारधारा का प्राधान्य था। जयप्रकाश नारायण जैसे नेताओं के नेतृत्व में कांग्रेस में एक समाजवादी दल था अवश्य, किन्तु वह अधिक प्रभावशाली नहीं था। १९३० - ३६ के लगभग भारत में कम्यूनिस्ट विचारधारा का प्रचार तीव्रगति से हुआ और रूस की १९१७ - १८ की राज्यक्रान्ति से प्रभावित हो देश के आभिजात्य और मध्यम वर्ग के अनेक शिक्षित युवक इस विचारधारा की ओर झुके। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह विचारधारा सर्वहारावर्ग और शोषितों का पक्ष समर्थन करती थी और उनके उज्ज्वल भविष्य के लिए उन्हें आशा दिलाती थी। किन्तु यह विचारधारा सर्वहारा और शोषित वर्ग में प्रचलित न होकर उच्च और मध्यम-

वर्ग के माध्यम से प्रचलित हुई जिसके फलस्वरूप कई ट्रेड यूनियनों या मज़दूर संगठनों के संगठित होने के बावजूद उच्चवर्ग और मध्यमवर्ग के कुछ नवयुवकों की केवल बौद्धिक सहानुभूति सर्वहारा और शोषित वर्ग के प्रति रही ।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, साम्यवाद (कम्युनिज़्म) और समाजवाद (सोशलिज़्म) लगभग पर्यायवाची शब्द हैं । कहना चाहें तो कह सकते हैं कि सोशलिज़्म कम्युनिज़्म का प्रथम सोपान है । संसार के किसी भी देश में, रूस और चीन में भी, अभी कम्युनिज़्म नहीं है । यूरोप में समाजवादी विचारधारा कार्लमार्क्स के पहले जन्म धारण कर चुकी थी । कार्ल मार्क्स ने १८४८ में अपने साम्यवादी घोषणा-पत्र को प्रकाशित किया और साम्य-वाद को उग्र रूप प्रदान किया । कार्ल मार्क्स एक क्रान्तिकारी विचार सम्पन्न प्रतिभाशाली व्यक्ति था । इस घोषणा-पत्र में उसने इतिहास की नई दार्श-निक व्याख्या प्रस्तुत की और अन्तर्राष्ट्रीय-संघर्ष का आह्वान किया । उसने संसार के मज़दूरों को संगठित करने की योजना प्रस्तुत की । कार्ल मार्क्स ने बताया कि सामन्तकालीन यूरोप ने समाज में पूँजीवाद और पूँजीवाद ने मध्यमवर्ग को जन्म दिया । इसी क्रम में फिर सर्वहारावर्ग का जन्म हुआ । संसार में वर्ग संघर्ष चलता रहता है । यह संघर्ष आर्थिक संघर्ष है और इन आर्थिक संघर्षों का ही परिणाम इतिहास है । यही द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है । उसके प्रसिद्ध ग्रन्थ का नाम `दास केपिटल` है जिसमें उसने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है । कार्ल मार्क्स ने अधिमूल्य (सर्प्लस वेल्यू) का सिद्धान्त प्रतिपादन किया अर्थात् उसने यह बताया कि एक मज़दूर को जितनी मज़दूरी मिलती है उससे कहीं अधिक मूल्य का वह उत्पादन करता है । इससे पूँजीपति की जेब भरती है और श्रमिक निर्धन होता जाता है । इसलिए उसने मज़दूर को आर्थिक जीवन में भागीदार बनाने का सुझाव संसार के सामने रखा । उसने बताया है कि पूँजीवाद के विनाश के बीज उसी में मौजूद हैं । मज़दूर संस्था

में अधिक है, इसलिए पूँजीवाद और सर्वहारा वर्ग के संघर्ष में सर्वहारावर्ग विजयी होगा, उसका अधिनायकत्व स्थापित होगा । और अन्त में ऐसे वर्ग-हीन समाज की स्थापना होगी जहाँ प्रत्येक व्यक्ति को धनसंचय की आवश्यकता नहीं रहेगी, उत्पादन और वितरण के साधनों पर समूचे समाज का अधिकार होगा, न कि किसी एक वर्ग का । कारखानों और उत्पादनों के साधनों पर भी समाज का अधिकार रहेगा । साम्यवादी विचारधारा मजदूरों के विश्व-व्यापी संगठन पर और सभी आर्थिक संस्थाओं के राष्ट्रीयकरण पर बल देती है । उसे साधनों की पवित्रता में, धर्म में, और अहिंसा में विश्वास नहीं है । मार्क्सवादी राजनीति का केन्द्रीय लक्षण वर्ग-संघर्ष है । राजनीति किसी भी रूप में हो वह वर्ग संघर्ष पर आधारित रहती है । इस संघर्ष से नए विचारों, नई सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था को जन्म मिलता है । इसी से समस्याओं का समाधान होता है, और सभी दिशाओं में मूल्यपरिवर्तन होता है । इस संघर्ष में जाती, साम्प्रदायिक, राष्ट्रीय अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जाता । श्रमिक या कोई भी शोषित वर्ग तभी प्रभावशाली हो सकता है जब वह अपने को राजनीतिक दल के रूप में संगठित करे । वर्ग-संघर्ष क्रान्तिकारी प्रतिबद्धता प्रकट करता है और पुराने जर्जर मूल्यों का अस्तित्व मिटा डालता है । कम्युनिज़्म में मजदूर वर्ग ही सबसे अधिक क्रान्तिकारी माना जाता है । सर्वहारावर्ग की यह प्रगति मानव-इतिहास की वस्तुगत अनिवार्य गतिशीलता है । केवल श्रम के क्षेत्र में मज़दूर और किसान भाई-भाई हैं । इन दोनों वर्गों के उत्पीड़न का प्रधान आधार पूंजीपतियों की आर्थिक व्यवस्था है । इस विचारधारा को विकसित करने में कार्लमार्क्स को फ्रेडरिक ऐंजिल्स से सहायता प्राप्त हुई ।

उन्नीसवीं शताब्दी में डारविन, कार्ल मार्क्स, सिग्मन्ड फ्रायड की विचारधाराओं ने वैचारिक स्तर पर क्रान्ति मचा दी थी । डारविन के सिद्धान्त के फलस्वरूप मनुष्य के पीछे छिपा हुआ पशुत्व उजागर हुआ ।

सिग्मण्ड फ्रायड ने दमित -वासनाओं, अवचेतनमन और सेक्स पर बल देकर मनुष्य के मन में लगे हुए मकड़ी के जाले दूर करने की चेष्टा की । कार्ल मार्क्स ने गरीबों के पेट की समस्या सुलझी । कार्ल मार्क्स की विचारधारा मानव-जीवन की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण समस्या का समाधान प्रस्तुत करती है । किन्तु कार्ल मार्क्स ने जितनी भविष्यवाणियाँ की थीं वे सब सच नहीं हुईं । उसने संसार के सभी पूँजीवादी देशों में, विशेषतः जहाँ उद्योग - धन्धों का विकास हो चुका था, वर्ग-संघर्ष की भविष्यवाणी की थी और १८६४ में अनेक देशों के मज़दूरों को संगठित करने की दृष्टि से प्रथम इन्टरनेशनल-संगठन की स्थापना की । परन्तु कार्ल मार्क्स की वाणी सफल सिद्ध नहीं हुई । यूरोप में जब विभिन्न देशों में आपस में संघर्ष हुआ तो मज़दूरों ने राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर उत्साहपूर्वक अपने-अपने यहाँ की पूँजीवादी सरकारों के साथ सहयोग प्रदान किया । प्रथम इन्टरनेशनल या द्वितीय इन्टरनेशनल के संगठनों से मज़दूरों का कोई हित साधन न हो सका ।

१९१७ - १८ की रूसी क्रान्ति के नेता लेनिन को कार्लमार्क्स के प्रति अटूट श्रद्धा थी । उसके नेतृत्व में रूस में ज़ारशाही समाप्त हुई । लाल सेना का संगठन हुआ और रूस में मज़दूरों की सरकार स्थापित हुई । वास्तव में कार्ल मार्क्स के सिद्धान्तों के अनुसार प्रथम जनवादी क्रान्ति औद्योगिक दृष्टि से विकसित अमरिका में होनी चाहिए थी । किन्तु यह क्रान्ति अमरीका में न होकर रूस में हुई । इस क्रान्ति का प्रभाव संसार के अनेक देशों के बुद्धिजीवी वर्ग की राजनीतिक विचारधारा पर पड़ा । भारतवर्ष भी इससे अछूता न रह सका । यद्यपि लेनिन के बाद रूस में कार्ल मार्क्स की विचारधारा को तोड़ा-मरोड़ा जाता रहा है, वहाँ के शासकों ने अपनी-अपनी सुविधाओं के अनुसार उसे नित्य नया रूप देने की चेष्टा की है, तो भी साम्यवादी विचारधारा का प्रचार सभी देशों में हो चुका है । द्वितीय महायुद्ध के बाद चीन का माओवाद चीनी कम्युनिज्म का रूप है । पूर्वी यूरोप के हंगरी,

चेकोस्लोवाकिया, रूमानिया, पोलैण्ड, यूगोस्लाविया, क्यूबा आदि में भी कार्ल मार्क्स की विचारधारा का प्रचार हो चुका है । आज संसार में कोई ऐसा देश नहीं है जहाँ कम्यूनिज्म का थोड़ा बहुत प्रचार न हो । उसका अन्तर्राष्ट्रीय रूप निर्विवाद है ।

`समाजवाद` शब्द का प्रयोग तो सन् १८३८ के बाद शुरू हो गया था । १८४८ में कार्ल मार्क्स का कम्यूनिस्ट मेनिफेस्टो अर्थात् घोषणापत्र प्रकाशित हुआ । धीरे-धीरे साम्यवादी या समाजवादी विचारधारा का तीव्र गति से प्रचार हुआ । जर्मनी में बिस्मार्क को भी समाजवादियों का सामना करना पड़ा था । जब बिस्मार्क जर्मनी में सैनिक राज्य-क्रान्ति की नींव पक्की कर रहा था तो कार्ल मार्क्स जर्मनी में समाजवादी लोकतन्त्र का प्रचार कर रहा था । समाजवाद की लोकनीति बिस्मार्क के सैनिकवाद की नीति के प्रतिकूल थी । १८५७ के बाद जर्मनी का औद्योगिक विकास बड़ी तेजी से हुआ और वहाँ जर्मन मजदूरों के सम्मेलन होने लगे जो कार्लमार्क्स के साम्यवाद से प्रेरित थे । साम्यवादी दल की शक्ति को देखकर बिस्मार्क बहुत चिन्तित रहता था । साम्यवादियों का दमन करने में असफल हो जाने के कारण उसने राज्य की ओर से ही मजदूरों की दशा सुधारने का प्रयत्न किया जिसे राजकीय समाजवाद कहते हैं । कार्ल मार्क्स के विचारों से प्रेरित होकर जर्मनी में जो समाजवादी लोकतन्त्रीय दल बना था उसका बड़ी कठोरता के साथ दमन किया गया, किन्तु इससे साम्यवाद का प्रचार रुका नहीं ।

अतः स्पष्ट है कि साम्यवाद या समाजवाद का प्रचार जर्मनी में १९ वीं शताब्दी में ही हो चुका था । वहाँ की औद्योगिक क्रान्ति और औद्योगिक व्यवस्था का कठोर अनुशासन, मजदूरों का शहर में आकर बसना, मजदूरों का असन्तोष और संगठन, कार्ल मार्क्स के क्रान्तिकारी विचारों आदि के कारण यूरोप में साम्यवाद या समाजवाद का शीघ्र ही प्रचार हुआ ।

सर्वहारा या श्रमिक वर्ग और पूंजीवादियों के बीच के संघर्ष तथा मज़दूरों की दरिद्रता दूर करने और औद्योगिक जीवन में मानवोचित सिद्धान्त का प्रचार करने के फलस्वरूप समाजवाद यूरोपीय शासन तन्त्र और राजनीति का प्रधान अंग बन गया । पूंजीवादी और श्रमिक वर्ग की राजनीति में टक्कर होने लगी । जब धनी अधिकाधिक धनी होते गए और निर्धनों की निर्धनता बढ़ती गई तो ऐसे राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद का उद्भव हुआ जो समान हो और जिससे सारे संसार में समाजवाद की स्थापना हो सके । समाजवाद या साम्यवाद की मुख्य मांगें थीं कारखानों और उत्पादन के साधनों पर राज्य का अधिकार, बैंकों का राष्ट्रीयकरण, सबके लिए कार्य करना अनिवार्य हो और सबको सब की आवश्यकतानुसार आर्थिक व्यवस्था हो, धन संचय की प्रवृत्ति को समाप्त कर दिया जाय ।

इसी नीति के फलस्वरूप १९१७-१८ रूस में बोल्शेविक क्रान्ति हुई जिसका प्रभाव संसार के अन्य देशों की भांति भारतवर्ष पर भी पड़ा और देश की शोषित जनता के प्रति अर्थात् किसान और मज़दूरों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न हुई । यहां तक कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर और जवाहरलाल नेहरू ने अपनी-अपनी रूस यात्रा के बाद सोवियत संघ पर छोटी-छोटी पुस्तकें लिखीं । इसी क्रान्ति के बाद संसार के शोषितों और सर्वहारा वर्ग के लोगों को बड़ी-बड़ी आशाएं बंध गई । भारतवर्ष जो साम्राज्यवादी अंग्रेजों की आर्थिक नीति से अत्यधिक पीड़ित था साम्यवादी या समाजवादी विचारधारा के लिए उर्वर भूमि सिद्ध हुआ और १९३६ ई० के आसपास कम्युनिस्ट विचारधारा का मध्यवर्गीय शिक्षितों में बड़ी तेजी से प्रचार हुआ । स्वतन्त्र-भारत की नीति क्योंकि कल्याण राज्य स्थापित करना था इसलिए जवाहरलाल नेहरू के समय में 'गरीबी हटाओ' आन्दोलन की आड़ में समाजवाद का नारा बुलन्द किया गया । स्वयं कांग्रेस दल में अनेक नेता समाजवादी विचारधारा के रहे हैं और हैं । ज़मींदारी उन्मूलन, देशी राज्यों की समाप्ति, बैंकों का

राष्ट्रीयकरण, उद्योग-धन्धों को प्राइवेट या पब्लिक सेक्टरों बांटकर, किसानों को भूमिधर अधिकार देकर समाजवाद की ओर थोड़ा सा कदम बढ़ाया गया है, किन्तु समाजवाद शब्द को सार्थक बनाने के लिए अभी बहुत कुछ करना शेष है। देश में शोषक वर्ग का उन्मूलन, शोषितवर्ग की समृद्धि, सम्पत्ति पर निजी स्वामित्व की समाप्ति, कारखानों पर मजदूरों का नियन्त्रण, उद्योग और कृषि दोनों में सामूहिकतावाद का प्रचार आदि समाजवादी व्यवस्था के अनेक तत्वों को पूर्ण होना है। एक ऐसी आर्थिक नीति निर्मित होनी है जिससे मजदूरों और किसानों की आर्थिक स्थिति सुधरे, सहकारिता आन्दोलन का विकास हो, मुनाफाखोरी और चोरबाजारी समाप्त हो। छः पंचवर्षीय योजनाएं बन चुकी हैं, किन्तु समाजवाद के लिए यही कहा जा सकता है कि दिल्ली अभी दूर है। सम्प्रति भारतीय राजनीति में पूंजीपतियों का बोलबाला है। उनके रुपए के बल पर नेता खरीदे बेचे जा रहे हैं।

वामपंथियों का दृष्टिकोण यथार्थवादी है जिसे समाजवादी यथार्थवाद (Socialist Realism) कहते हैं। समाजवादी यथार्थ मात्र सामाजिक यथार्थ से भिन्न है। सामाजिक उपन्यासों में सामाजिक जीवन का चित्रण करते समय लेखक का कोई खास दृष्टिकोण नहीं होता। समाजवादी यथार्थ का कम्युनिस्ट दृष्टिकोण होता है और हिन्दी के प्रगतिवादी साहित्य ने यही यथार्थ ग्रहण किया। 'समाजवादी यथार्थवाद' शब्द स्तालिन का दिया हुआ था। वह यथार्थ सतही यथार्थ की ओर दृष्टिपात न कर उसके मूल — आर्थिक और वर्गमूलक यथार्थ तक जाता है। इसमें वह शोषण से पीड़ित किसानों और मजदूरों की पीड़ा और कष्ट का अनुभव करता है। सामंतवाद और पूंजीवाद को मरणोन्मुख शक्तियां मानकर लेखक जनवादी जीवन्त शक्तियों से उनका संघर्ष चित्रित करता है। ये लेखक अपने को ही युग का सच्चा प्रतिनिधि मानने का दावा करते हैं। समाजवादी यथार्थ या

प्रगतिवाद का दर्शन मार्क्सवादी है । आज का समाजवादी लेखक वर्तमान जर्जर पूंजीवादी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था की सड़ी गली, शोषक और मानवघाती पुरानी जीवन-दृष्टियों के स्थान पर नई जीवन-दृष्टि, मूल्य-मर्यादाएं स्थापित करना चाहता है । समाजवादी सपूर्ण सर्वहारा वर्ग का हित करना चाहता है । वह आमूल क्रान्ति चाहता है । उसका सौन्दर्यबोध जनजीवन पर आधारित है जो परिस्थितियों और सामाजिक सम्बन्धों से निर्मित होता है । वह व्यक्ति की निजी रुचि-अरुचि पर निर्भर नहीं रहता । सौन्दर्य - बोध के मूलाधार- मन के आवेग और मानसिक चेतना- का सम्बन्ध सामाजिक जीवन से होता है । वह सौन्दर्य बोध शाश्वत नहीं होता या किसी कल्पना पर या अतीन्द्रिय लोक का नहीं होता । जीवन ही सौन्दर्य है या सौन्दर्य ही जीवन है । 'कलार्थ कला' में उसे विश्वास नहीं । वह सोद्देश्य है । साहित्य जनता के लिए और जनता साहित्य के लिए है । उसमें प्रचारात्मकता भी रहती है । किन्तु अधिक प्रचारात्मकता उसे हल्का बना देती है । व्यक्ति के स्थान पर प्रगतिवादी साहित्य समाज का चित्रण करता है, मनुष्य के सामाजिक-आर्थिक परिवेश पर बल देता है । उसके लिए समाज शोषकों और शोषितों के दो वर्गों में बंटा हुआ है । उनमें संघर्ष बना रहना अनिवार्य है । प्रगतिवादी साहित्य जनवादी शक्तियों को, किसानों मजदूरों को (विशेषत: मजदूरों को क्योंकि उनकी कोई निजी सम्पत्ति या पूंजी (vested interest) नहीं होती और इसीलिए उनका नारा है — 'Workers of the world unite, you have nothing to loose but your chains'. वह पीड़ितों शोषितों को उभाड़ना चाहता है — यद्यपि इस साहित्य में चित्रण सभी वर्गों से चुने गए हैं । वह सर्वहारावर्ग का अधिनायकत्व चाहता है और अपना अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण प्रस्तुत करना चाहता है — लेकिन उनका अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण रूस का दृष्टिकोण है ।

वामपंथी प्रवृत्ति के स्वातन्त्र्योत्तरकालीन उपन्यासकारों में यशपाल का शीर्ष स्थान है। वैसे भी वे हिन्दी के उपन्यासकारों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। उनके औपन्यासिक-साहित्य में `झूठा सच` (१९५८-६०) सर्वाधिक चर्चित उपन्यास है। १९४२ और भारत-विभाजन (१९४७) से लेकर १९५२ तक के भारत के राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का यथार्थवादी चित्रण किया गया है। किन्तु राजनीति से सम्बन्ध होने पर भी उसमें स्वतन्त्रता-पूर्व राजनीतिक सन्दर्भों का अधिक उल्लेख नहीं हुआ है। उसमें स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद की राजनीति अधिक प्रतिबिम्बित हुई है। इसलिए इस उपन्यास की चर्चा आगे की गई है।

यशपाल के अतिरिक्त रांगेय राघव भी वामपंथी दृष्टिकोण-सम्पन्न उपन्यासकार माने जाते हैं। यशपाल और राहुल जी के अतिरिक्त रांगेय राघव भी वामपंथी दृष्टिकोण-सम्पन्न उपन्यासकार हैं। रांगेय राघव के उपन्यासों का मूल स्वर पूँजीवादी शोषण और बुर्जुवा मनोवृत्ति का विरोध करना है। वर्ग-वैषम्य का चित्रण उनके उपन्यासों में रहता है। वर्ग-वैषम्य उनके उपन्यासों का मूलस्वर है। राजनीतिपरक जीवन की कलुषता उन्होंने पहचानी है। वे उससे बाहर निकलने का प्रश्न उठाते हैं। उन्होंने अपने युग के सत्य और द्वन्द्व के सन्दर्भ में मानव का सर्वांगीण रूप पहचानने की कोशिश की है। उनके उपन्यासों में युग-सत्य यथार्थता के साथ चित्रित किया गया है। उनका यथार्थ समाजवादी यथार्थ है। सामाजिक विकृतियाँ दूर करने के लिए वे क्रान्ति चाहते हैं। उनका दृष्टिकोण समाजवादी है। उन्होंने अनेक उपन्यास लिखे हैं (३० के लगभग) जैसे, `घरौंदा` (१९४६), `विषाद मठ` (१९४६), `मुर्दों का टीला` (१९४८), `चीवर` (१९५१), `सीधा-सादा रास्ता` (१९५१), `हुजूर` (१९५२), `अंधेरे के जुगनू` (१९५३), `रत्न की बात` (१९५४), `बोलते खंडहर` (१९५५), `कब तक पुकारूँ` (१९५७), `बौने और घायल फूल` (१९५७), `पक्षी और आकाश`

(१९५८), 'कब आयेगी काली घटा' (१९५८), 'बन्दूक और बीन' (१९५८), 'राई और पर्वत' (१९५८), 'राह न रुकी' (१९५८), 'हुजूर' (१९५९), 'पथ का पाप' (१९६०), 'धरती मेरा घर' (१९६२), 'पतझर' (१९६२), 'आखिरी आवाज़' (१९६३) आदि । किन्तु उनके उपन्यास या तो ऐतिहासिक हैं या सामाजिक समस्याओं का समाजवादी दृष्टि से समाधान करते हैं या जीवनी-परक हैं (जैसे, 'यशोधरा जीत गई' (१९५४), 'मेरी भवबाधा हरौ' (१९६०) आदि) या चरितात्मक हैं । 'हुजूर' (१९५२), 'कब तक पुकारूँ' (१९५८) आदि उनके प्रसिद्ध और सामाजिक प्रवृत्ति से पूर्ण उपन्यास हैं । 'मुर्दों का टीला', (१९४८) (१९६३ तृ०सं०) उनका प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास है । यह उपन्यास प्रागैतिहासिक (मोहनजोदड़ो) काल पर आधारित है और साम्राज्यवाद का विरोध तथा गणतंत्र का समर्थन करता है । उसमें भावानुभूति की गहराई अधिक है । उसमें भी लेखक का समाजवादी दृष्टिकोण है । उनकी रचनाओं में वर्ग-वैषम्य और आर्थिक शोषण को प्रमुख स्थान मिला है । 'धरती मेरा घर' (१९६१) में मानववाद का एक नया स्तर है । 'कब तक पुकारूँ' (१९५८) में उन्होंने नटों के व्यापक संश्लिष्ट जीवन का चित्र प्रस्तुत किया है । रांगेय राघव के 'सीधा सादा रास्ता' (१९५१) ,(भगवतीचरण वर्मा के 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' के उत्तर में लिखा गया) उपन्यास में १८५७ के गदर आन्दोलन, क्रान्तिकारी आन्दोलन, सामन्तशाही प्रथा, जमींदारी प्रथा, अहिंसात्मक आन्दोलन, गाँधीवादी दर्शन, वर्ग-संघर्ष आदि का वर्णन हुआ है । इस उपन्यास में मार्क्सवादी आन्दोलन, मज़दूर आन्दोलन आदि का भी वर्णन है । उपन्यास का प्रमुख पात्र रामनाथ है । वह सामन्तशाही और पूँजीवाद का समर्थक है । रामनाथ के तीनों पुत्र स्वतन्त्रता-संग्राम में भाग लेते हैं । वे लोग विभिन्न पार्टियों में अपना योगदान देते हैं । दयानाथ कांग्रेस आन्दोलन में भाग लेता है । क्रान्तिकारी आन्दोलन में

प्रभानाथ भाग लेता है, और शहीद हो जाता है । कम्युनिस्ट पार्टी में बलदत, उमानाथ हैं । इस उपन्यास में साम्प्रदायिकता और वर्ग-संघर्ष देखने को मिलता है । गाँधीवादी दर्शन का समर्थक मार्कण्डेय है । वह गाँधी जी के पद चिह्नों पर चलता है । उनके `विषाद मठ` उपन्यास में भी अनेक राजनीतिक आन्दोलनों का वर्णन मिलता है । इस उपन्यास में बंगाल आन्दोलन, मजदूर आन्दोलन, जमींदारी-प्रथा, असहयोग आन्दोलन, नौकरशाही प्रथा आदि का उल्लेख हुआ है । इस उपन्यास का प्रमुख पात्र शिशिर है । वह मजदूर दल का नेता है और मिल में हड़ताल करवाता है । रांगेय राघव ने `विषाद मठ` में टूटते हुए व्यक्ति का चित्रण न कर राष्ट्रीय दृष्टिकोण व्यक्त किया है ।

राहुल सांस्कृत्यायन की औपन्यासिक रचनाएँ `सिंह सेनापति` (१९४२ ? १९५० ?) और `जय यौधेय` (१९४४) स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पहले की रचनाएँ हैं । उनकी अन्य दो रचनाएँ `मधुर स्वप्न` (१९५०) और `विस्मृत यात्री` (?) में इतिहास द्वारा साम्यवादी सिद्धान्तों के आधार पर आदर्श समाज की स्थापना कराने का संकेत मिलता है । उनके मतानुसार मार्क्सवाद आज की परिस्थिति में मौद्दमत का ही रूपान्तर है । उनके उपन्यास इतिहास पर आधारित हैं, न कि स्वातंत्र्योत्तर जीवन पर । किन्तु वे सामन्तवाद, पूंजीवाद, आर्थिक शोषण आदि के विरोधी हैं । उन्होंने इतिहास को भी अपने उपन्यासों का आधार बनाया, किन्तु ऐतिहासिक यथार्थ की व्याख्या कम्युनिस्ट सिद्धान्तों के आधार पर की है ।

मन्मथनाथ गुप्त के अधिकतर उपन्यासों की पृष्ठभूमि स्वतन्त्रता-आन्दोलन की रही है । उदाहरणार्थ, उनके `अपराजिता` (१९६०) उपन्यास में क्रान्तिकारियों की गतिविधि का वर्णन है । भगतसिंह की फांसी, कानपुर के हिन्दू-मुस्लिम दंगे में गणेशशंकर विद्यार्थी आदि का भी उसमें उल्लेख हुआ है । उनके `दैव कबीरा रोया` (१९६१) में नारी और वेश्या की समस्या का अन्तर्भाव है । किन्तु उनके गृहयुद्ध (१९५७) उपन्यास में मुख्य राजनीतिक समस्या

हिन्दू-मुस्लिम समस्या है । लेखक ने सर्वहारावर्ग, पूंजीपति आन्दोलन, साम्प्रदायिक आन्दोलन, सत्याग्रह आन्दोलन आदि का वर्णन भी किया है । इस उपन्यास का प्रमुख पात्र राजीव है जो साम्प्रदायिक आन्दोलन दबाने का कार्य करता है । वह सत्याग्रह के द्वारा देश में साम्प्रदायिक दंगों को समाप्त करना चाहता है । इस उपन्यास में समाज के मध्यवर्गीय परिवार, का भी चित्रण मिलता है । इसी प्रकार उनके `बहता पानी` (१९५५) उपन्यास में क्रान्तिकारी आन्दोलन, सत्याग्रह आन्दोलन, सामाजिक विप्लवकारी आन्दोलन, बुर्जुआ वर्ग, कांग्रेस आन्दोलन का वर्णन हुआ है । इस उपन्यास के प्रमुख पात्र वैद्यनाथ है । वह कम्युनिस्ट पार्टी का नेता है । वह भी दो बार जेल भी जाता है । उन्हीं के `रैन अंधेरी` (१९५६) उपन्यास में चौरीचौरा कांड, क्रान्तिकारी आन्दोलन, कांग्रेस का असहयोग आन्दोलन, साम्प्रदायिक आन्दोलन, स्वदेशी आन्दोलन, नमक सत्याग्रह आन्दोलन का वर्णन हुआ है । इस उपन्यास का प्रमुख पात्र कुणाल है जो क्रान्तिकारी दल का नेता है । वह अपने देश के साथ विश्वासघात करने वालों की हत्या कर देता है और अपने देश के लिए शहीद हो जाता है । इस लेखक का `रंगमंच` (१९६०) उपन्यास में क्रान्तिकारी आन्दोलन, नमक सत्याग्रह आन्दोलन, साम्प्रदायिक आन्दोलन, कांग्रेस के असहयोग आन्दोलन, गांधी जी की डांडी यात्रा, जलियाँ वाला बाग का हत्याकाण्ड और मार्क्सवादी आन्दोलन का वर्णन हुआ है । इसका प्रमुख पात्र प्रेमचन्द है । वह कम्युनिस्ट पार्टी का नेता है । वह अपने देश में समाजवाद लाने का स्वप्न देखता है, किन्तु अन्त में फांसी पर चढ़कर शहीद हो जाता है । उनका `नया सवेरा` (१९६०) उपन्यास कांग्रेस के असहयोग आन्दोलन, जलियाँवाला बाग का हत्याकाण्ड, क्रान्तिकारी आन्दोलन, खिलाफत आन्दोलन, १८५७ का गदर आन्दोलन, साम्राज्यवादी आन्दोलन, चौरीचौरा कांड पर प्रकाश डालता है । इस उपन्यास का प्रमुख पात्र राजेन्द्र है ।

वह क्रान्तिकारी दल का नेता है । वह हिंसा में विश्वास करता है । मन्मथ गुप्त कृत 'अपराजित' (१९६०) उपन्यास में क्रान्तिकारी आन्दोलन, गांधी-इरविन समझौता, साम्राज्यवादी आन्दोलन, मार्क्सवादी आन्दोलन, पूंजीपति आन्दोलन, राष्ट्रीय सत्याग्रह आन्दोलन का वर्णन हुआ है । इस उपन्यास का प्रमुख पात्र श्रीकान्त है । वह कम्युनिस्ट पार्टी का नेता है । वह देश के साथ विश्वासघात करने वालों की हत्या कर देता है और समाजवाद लाने का स्वप्न देखता है । इसीप्रकार 'प्रतिक्रिया' (१९६१) उपन्यास में उन्होंने सत्याग्रह आन्दोलन, गांधी इरविन समझौता, क्रान्तिकारी आन्दोलन, हरिजन आन्दोलन आदि का वर्णन किया है । इस उपन्यास का प्रमुख पात्र शिशु है । वह गांधी जी के सिद्धान्तों का घोर विरोधी है । वह देश में हिंसा के द्वारा स्वराज्य प्राप्त करना चाहता है । इस उपन्यास में जातीय प्रतिक्रिया का बोलबाला है । उनका 'सागर संग्राम' (१९६२) उपन्यास भी स्वतन्त्रता के पूर्व का वर्णन करता है । इसमें कांग्रेस आन्दोलन, गांधी-इरविन समझौता, मुस्लिम लीग की स्थापना, साम्यवादी आन्दोलन, क्रान्तिकारी आन्दोलन ,साम्प्रदायिक आन्दोलन का वर्णन हुआ है । उपन्यास का प्रमुख पात्र आनन्दकुमार है ।

भैरवप्रसाद गुप्त के 'मशाल' (१९५१) उपन्यास में असहयोग आन्दोलन , कांग्रेस आन्दोलन, जमींदारी प्रथा, कम्युनिस्ट आन्दोलन , पूंजीवादी आन्दोलन, सामन्तवादी प्रथा, मजदूर आन्दोलन आदि का वर्णन हुआ है । इस उपन्यास के प्रमुख पात्र नरेन और मंसूर है । ये दोनों कम्युनिस्ट पार्टी के नेता हैं । भैरवप्रसाद गुप्त ने 'मशाल' उपन्यास में देश की राजनीति का बड़ा ही विशद वर्णन किया है । 'मशाल' में इस प्रकार के नारे पढ़ने को मिलते हैं :-

'शहीदों के खून का बदला लेकर रहेंगे ।'..... 'खूनी स्टीफन्सन और रशीद को फांसी दो ।'..... 'हमारे मजदूर नेताओं को रिहा करो ।'... 'मजदूरों की एकता । जिन्दाबाद ।'.... शहीद मजदूर । जिन्दाबाद ...'

`मशाल` (१६५१) में कानपुर के मज़दूरों के संघर्षपूर्ण जीवन और अपने अधिकारों के लिए सतत्‌लड़ाई की कहानी साम्यवादी दृष्टिकोण से कही गई है। `गंगा-मैया` (१६५३) में मटरू और गोपी के दो कृषक परिवारों पर आधारित कृषक वर्ग के संघर्ष और समस्याओं का चित्रण हुआ है। इस उपन्यास में भी साम्यवादी दृष्टिकोण है। `गंगा मैया` में उन्होंने देहाती जीवन में नई चेतना फूंकी है। सामूहिक शैली को सफल बनाने के लिए उन्होंने समाजवादी दृष्टिकोण से काम लिया है। किसानों के संघर्ष में शारीरिक बल का भी प्रयोग किया गया है। गोपी की जेलयात्रा का वर्णन लेखक ने किया है। मटरू की फसल पर उसका और अन्य किसानों का समान अधिकार है जिसके लिए वह शोषण की शक्तियों से जूझता है। किसानों की उगती हुई चेतना को समष्टि-चिन्तन के धरातल पर स्वीकार किया गया है। उसकी आधुनिकता समाजवादी भूमि पर आधारित है। `मशाल` में सैद्धान्तिक स्तर अधिक प्रमुख हो गया है। `गंगा मैया` में लेखक मानवीय स्तर पर उतर आता है। ७४३ पृष्ठों का `सती मैया का चौरा` (१६५६) आंचलिक उपन्यास समझा जाता है। किन्तु यहाँ भी लेखक साम्यवादी आग्रह व्यक्त किए बिना नहीं रहता। अंचल की तीन पीढ़ियों की कहानी द्वारा लेखक ने महाजनों और जमींदारों द्वारा किया गया शोषण दिखाया है और राजनीतिक चेतना का प्रसार प्रदर्शित किया है। `सती मैया का चौरा` का कथा-नायक, मन्नी, का व्यक्तित्व राजनीतिक पार्टियों की कुटिलताओं में आकंठ डूबा है। इस उपन्यास में राजनीतिक पार्टियों का वीभत्स स्वरूप चित्रित किया गया है। उपन्यास की मूल समस्या साम्प्रदायिकता है। भैरवप्रसाद गुप्त का कोई भी उपन्यास हो उसमें राजनीतिक पूर्वाग्रह उनके कला पक्ष पर हावी हो जाता है। प्रेमचन्द के `गोदान` में होरी किसान संघर्ष करते-करते मर जाता है। भैरवप्रसाद गुप्त किसान को जीवित और संघर्षरत रखते हैं। उनकी समाजवादी दृष्टि को किसान का पराभव होना अखरता है। `गंगा मैया` में सहकारी और

सामूहिक खेती की चेतना समाजवादी दृष्टि से है । इसकी सफलता के लिए किसानों का संगठित होना आवश्यक है । उन्हें शोषण की शक्तियों से जूझना है । भैरवप्रसाद गुप्त कृत `जंजीरें और नया आदमी` (१९५६) उपन्यास में पूंजीपति आन्दोलन, १८५७ का गदर आन्दोलन, क्रान्तिकारी आन्दोलन, सत्याग्रह आन्दोलन , कम्यूनिस्ट आन्दोलन आदि का वर्णन हुआ है । उनका कहना है कि हमारा देश कितना भूखा है । तमाशबीन इधर उधर खड़े तमाशा देख रहे हैं, भूखी मानवता का तमाशा, जो खाने के सामने जलाना नहीं समझती । पत्तल में जो भी पड़ता है, वही साफ । यह चिन्ता नहीं कि भात के साथ दाल होनी चाहिए और दाल-भात के साथ तरकारी । भैरव-प्रसाद गुप्त ने `जंजीरें और नया आदमी` में ब्रिटिश शासकों के अत्याचारों का वर्णन किया है । देशभक्तों पर किस तरह गोलियां बरसायी गई थीं और किस प्रकार शहीदों के खून की नदियां बहने लगी थीं ।

अमृतराय कृत तीन उपन्यासों -`बीज` (१९५३), `नागफनी का देश` (?), `हाथी के दांत` (?) में से `बीज` में १९४२ से लेकर स्वतन्त्रता-प्राप्ति तक के भारत की राजनीतिक गतिविधियों की झांकी मिलती है । अमृतराय के `धुआं` (१९७७) उपन्यास में विभिन्न राजनीतिक गतिविधियों, जैसे, बंगाल आन्दोलन, जमींदारी प्रथा का उन्मूलन , देश-विभाजन, मुस्लिम लीग की स्थापना, साम्प्रदायिक आन्दोलन आदि का वर्णन मिलता है । इसका प्रमुख पात्र शिशिर है वह कम्युनिस्ट पार्टी का नेता है और देश में समाजवाद की नींव सुदृढ़ करना चाहता है । अमृतराय ने `धुआं` में जीवन के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण व्यक्त किया है । श्रीराम शर्मा के `पथ निर्देश` (१९५१) नामक उपन्यास में मजदूर आन्दोलन, पूंजीवादी आन्दोलन, साम्राज्य-शाही प्रथा का अन्त, मुस्लिम लीग की स्थापना, साम्प्रदायिक आन्दोलन का

वर्णन हुआ है । इस उपन्यास का प्रमुख पात्र महेन्द्र है । वह कम्युनिस्ट पार्टी का नेता है । वह मजदूरों का भी नेता है । वह अपने देश में समाजवाद लाने का स्वप्न देखता है और अपना सम्पूर्ण जीवन देश के लिए बलिदान कर देता है । इस उपन्यास में प्रसंगवश स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद के भ्रष्टाचार और घूसखोरी का भी संकेत मिलता है । अमृतलाल नागर का 'तूफान और तिनके' (१९५०) उपन्यास में कम्युनिस्ट आन्दोलन, कांग्रेस आन्दोलन, श्रमजीवी वर्ग की स्थापना और बंगाल के अकाल का चित्रण हुआ है । इसका प्रमुख पात्र ब्रजनाथ है । वह कम्युनिस्ट पार्टी का नेता है वह देश में समाजवाद लाना चाहता है ।

वामपंथी दृष्टि से लिखे गए उपर्युक्त उपन्यासों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि लेखकों में कम्युनिज्म के प्रति सैद्धान्तिक आग्रह है । उनकी दृष्टि में हर समस्या का समाधान कम्युनिज्म में है । उन्होंने धर्म के प्रति उपेक्षा का भाव ग्रहण किया है । आर्थिक पुनर्व्यवस्था और सर्वहारा-वर्ग की दलगत राजनीति पर उन्होंने बल दिया है । साधन की पवित्रता में उन्हें विश्वास नहीं । हिंसा-अहिंसा के पचड़े में वे पड़ना नहीं चाहते । लक्ष्य की प्राप्ति ही उनका चरम उद्देश्य है । ऐल्डस हक्सले ने अंग्रेजी में एक पुस्तक लिखी थी - 'Ends And Means' उसमें उन्होंने साधन की पवित्रता पर बल दिया है । इसका जवाब कम्युनिस्ट शेवलांकर ने 'Ends Are Means' पुस्तक लिखकर दिया था । 'Ends Are Means' वाला दृष्टिकोण ही वामपंथी उपन्यास-लेखकों में मिलता है । इसके अतिरिक्त इन उपन्यास-लेखकों ने सामन्तवाद और पूंजीवाद की कटु आलोचना तो की ही है, साथ ही मध्यमवर्ग, बुर्जुवाँ ,को दुर्बल मनोवृत्तिवाला वर्ग बताकर उसकी खिल्ली उड़ाई है । उन्हें सर्वहारावर्ग की संगठित शक्ति में विश्वास है । ब्रिटिश साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद की उन्होंने तीव्र आलोचना की है । गाँधी जी के सत्य अहिंसा और राजनीति में नैतिक आचरण के प्रति उन्हें

आस्थानहीं है । कम्युनिस्ट दर्शन को दृष्टिपथ में रखते हुए भी उन्होंने कम्यु-
निज़्म के निरन्तर बदलते हुए पैटर्न की ओर ध्यान नहीं दिया । उदाहरणार्थ-
रूस में सहकारी कृषि (Co-operative Farming) आन्दोलन क्रान्ति
के कुछ वर्षों बाद ही असफल घोषित कर दिया गया था । अथवा रूसी
कुलक्स (Kulaks) का अस्तित्व मिटाने के लिए भी वहाँ के
राजनीतिज्ञों ने कदम उठाए थे । किन्तु उपर्युक्त उपन्यासकारों ने कम्युनिज़्म
के नित नई करवटें बदलने की ओर ध्यान नहीं दिया ।

वामपंथी उपन्यास हिन्दी प्रगतिवादी (साम्प्रदायिक अर्थ) आन्दो-
लन का एक पक्ष है और बहुत दुर्बल एवं क्षीण पक्ष है ।

अध्याय-५

स्वातंत्र्योत्तर वादमुक्त राजनीति

१५ अगस्त, १९४७ को भारत स्वतंत्र हुआ और प्रजातांत्रिक कल्याण राज की स्थापना हुई। स्वतन्त्रता के बाद भारतीय संविधान की रचना हुई और कई चुनाव सम्पन्न हुए। किन्तु देश को स्वतन्त्र होते देर न हुई थी कि गांधी जी का `रामराज्य` का सपना तिरोहित हो गया और देश के जीवन के प्रत्येक पक्ष में घुन लग गया। देश की बागडोर पेशेवर राजनीतिकों के हाथ में चली गई। स्वतन्त्रता-संघर्ष के दौरान देश में जो आदर्श था, त्याग, बलिदान, सेवा, आत्मोत्सर्ग आदि की जो भावना थी, उसके स्थान पर स्वार्थपरता, भ्रष्टाचार, मंहगाई, घूसखोरी, काला धंधा, तस्करी, पद-लोलुपता, धनलोलुपता, भाई-भतीजावाद, परमिटों, आदि की काली छाया राष्ट्रीय जीवन पर छा गई। नैतिक एवं चारित्रिक दृढ़ता नाम की कोई चीज़ नहीं रह गई। आश्चर्य यह है कि यह कलंक ऊपर से छनकर नीचे आया है। परिणाम यह हुआ कि औसत दर्जे का आदमी भी नेताओं और मंत्रियों की नकल करता है। मामूली चपरासी, बाबू आदि सरकार कर्मचारियों से लेकर नेताओं और मंत्रियों तक `रुपए` का बोलबाला है। राजनीति दूषित हो गई है। लोकसभा और विधान सभाओं में बड़े-बड़े निर्णय लिए जाते हैं। उनमें से ज्यादातर निर्णय कागजी बनकर रह जाते हैं। जनता को उनसे कोई लाभ नहीं पहुंचता। १९५१ में जब लोकसभा का प्रथम अधिवेशन हुआ तो तत्कालीन प्रधानमंत्री ने कहा था :- "the responsibility for the govermance of India, for the advance of India, lies on this and future parliaments."

यदि ऐसा न हुआ तो उन्होंने भविष्यवाणी की थी कि इससे भारत का कोई

भला न हो सकेगा । आज उनकी भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हो रही है । १९६८ में श्री एम०सी० चागला ने कहा था कि सांसदों में अधिकतर ऐसे सांसद हैं जिन्हें लोकसभा की कार्यवाहियों में कोई रुचि नहीं । वहाँ कुर्सियां प्राय: खाली मिलती हैं । नेता लोग अपनी स्वार्थ-सिद्धि में लगे रहते हैं । १९८२ में जब चौधरी चरणसिंह प्रधानमंत्री थे तो उन्हें छठी विकास-योजना पर बहस के समय सांसदों की अनुपस्थिति के कारण लोक-सभा छोड़कर चला जाना पड़ा था । उपलब्ध आंकड़ों के अनुसार १९६२ में निर्वाचित तीसरी लोकसभा की कानूनी कार्यवाहियों में ४८. ८ प्रतिशत, चौथी में १८. ८ प्रतिशत, पांचवीं में ३० प्रतिशत और १९७७ में निर्वाचित छठी लोकसभा में २१. ४ प्रतिशत समय लगा था । इसी प्रकार यदि प्रथम निर्वाचित लोकसभा में ७१९०७ पूछे गये प्रश्नों में से ६१ प्रतिशत स्वीकृत हुए थे, तो पांचवीं निर्वाचित लोकसभा में पूछे गए २५२७९० प्रश्नों में से केवल ३९ प्रतिशत स्वीकृत हुए थे । इसका तात्पर्य यह है कि लोकसभा में पूछे गये प्रश्नों की तैयारी करने का मानदण्ड निरन्तर गिरता ही गया । पूछे गए प्रश्नों में भी अनेक प्रश्न ऐसे थे, जैसे कि भारतीय सरकार चन्द्रलोक में अन्तरिक्ष यात्री कब भेजेगी, देश में भिखारियों की संख्या कितनी है, दिल्ली की बस सर्विस के लिये बस स्टाप और अधिक कब लगेंगे, बिहार में बन्दर-गाह कब बनेगा आदि । प्रति प्रश्न रु० १००००) का व्यय होने पर भी प्रश्न पूछने वाले सांसद अनुपस्थित रहते हैं । गम्भीर समस्याओं के लिये सांसदों के पास समय नहीं रहता । आदिवासियों पर किए गए अत्याचारों के सम्बन्ध में बहस इसलिए नहीं हो सकी क्योंकि कोरम पूरा नहीं था । राष्ट्रीय एकता के सम्बन्ध में उत्पन्न संकटों पर विचार करने के लिये सांसदों की कम-से-कम निश्चित संख्या उपस्थित नहीं रहती । बलात्कार :

सम्बन्धी बिल के संशोधन के लिए, अभी कुछ समय पहले, संसद के ५४४ सदस्यों में से कुल २८ सदस्य उपस्थित थे। सांसद जनता के प्रतिनिधि होते हैं। किन्तु जन-सेवा-कार्यों में रुचि लेने के स्थान पर वे बाहु दलीय दांव-पेंचों में लगे रहते हैं। किसे गिराया जाय किसे उठाया जाय, यही उनका मुख्य उद्देश्य रहता है। इन्हीं सब कारणों से स्वतन्त्र-भारत का जनतन्त्र मज़ाक बनकर रह गया है। लोकसभा का कार्य है सरकारी नीतियों का परीक्षण-विवेचन करना, बजट आदि पर गंभीरता पूर्वक विचार कर राष्ट्रीय जीवन को प्रशस्त बनाना। प्रधान मंत्री सदन की उपेक्षा करने लगे हैं जिसका परिणाम अध्यादेश जारी करने में दृष्टि-गोचर होता है। उन्नीसवीं शताब्दी में बैंजामिन डिज़राइली ने पील के सम्बन्ध में जो कहा था वह आज भी लागू होता है। उसने कहा था :

"He ... wants to figure in history as the settler of all the great questions; but a parliamentary constitution is not favourable to such ambitions; things must be done by parties, not by persons using parties as tools."

हमारे राजनीतिक नेताओं को इन शब्दों से पाठ सीखना है।

इस सबका परिणाम यह है कि योजनाएं खूब बनती हैं, कुछ पंच-वर्षीय योजनाएं बन चुकी हैं, किन्तु अभी करोड़ों लोग गरीबी का जीवन व्यतीत कर रहे हैं। बीस सूत्री कार्यक्रम के लिये अभी समितियां बन रही हैं। ठोस परिणाम सामने नहीं आया। आर्थिक विषमता दिन-पर-दिन बढ़ती जा रही है। रुपये का अवमूल्यन तेजी से हो रहा है। मंह-गाई सुरसा की भांति मुंह फैलाती जा रही है। आर्थिक विषमता और अराजकता के कारण असन्तोष बढ़ता जा रहा है। इससे प्रजातान्त्रिक

पद्धति पर प्रश्न-सूचक चिह्न लगाए बिना नहीं रहा जा सकता। डिक्टेटर-शिप में अनुशासन ऊपर से लादा जाता है। प्रजातन्त्र में यह अनुशासन व्यक्ति के भीतर से आना चाहिए। सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन में स्वतन्त्र भारत के नेता अनुशासन अनुप्राणित करने में असफल रहे हैं। हिंसा, हत्या, अराजकता, कानून की अवहेलना आदि के फलस्वरूप राष्ट्रीय जीवन की जड़ें हिलती जा रही हैं। आर्थिक क्षेत्र में सरकार और व्यापारियों दोनों को गम्भीरतापूर्वक राष्ट्रीय हित की बात सोचनी है। कालाधन देश के आर्थिक जीवन का प्रधान अंग बन गया है। इसे कैसे रोका जाय, यह सोचने की बात है। इससे देश की सारी व्यवस्था का कचूमर निकला जा रहा है।

यह ठीक है कि देश में बड़े-बड़े कारखाने खुले हैं, उद्योग-धन्धों ने उन्नति की है, वाणिज्य-व्यवसाय आगे बढ़ रहा है, तो भी यही प्रश्न हमेशा सामने आता है कि सम्यक् दृष्टि से देश कहां जा रहा है। वह आगे बढ़ रहा है या पीछे हट रहा है। सभी राज्यों की अपनी-अपनी समस्यायें हैं और उनमें किसी-न-किसी छोटी-सी समस्या को लेकर संघर्ष है। सभी राज्य अधिकाधिक स्वायत्तता चाहते हैं। सांस्कृतिक दृष्टि से भारत भले ही एक हो, किन्तु सामाजिक दृष्टि से, वर्ण व्यवस्था और ऊंच-नीच की भावना की दृष्टि से वह भिन्न टुकड़ों में बंटा हुआ है। आज की प्रजा-तान्त्रिकपद्धति में वर्ण-व्यवस्था का यथेष्ट महत्त्व हो गया है जो नितांत अवांछनीय है। वर्ण-व्यवस्था राजनीतिक नेताओं को बना-बिगाड़ रही है। जातिगत भावनाएं तीव्र होती जा रही हैं। उदाहरणार्थ मद्रास और महाराष्ट्र, और बहुत-कुछ उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश और बिहार में भी जातिगत पूर्वाग्रहों ने राजनीति को प्रभावित किया है। बंगाल और उड़ीसा भी इस रोग से मुक्त नहीं हैं। स्वतन्त्र भारत के संविधान में सबको एक ही

दृष्टि से देखा गया है और सबको समानाधिकार प्रदान किए गए हैं । स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पिछले तैंतीस वर्षों में सामाजिक क्रान्ति हो जानी चाहिये थी किन्तु हम अभी वहीं हैं जहाँ परतन्त्रता काल में थे । हमारी सामाजिक व्यवस्था का आधुनिकीकरण नहीं हो पाया । हिन्दी को लेकर जो विरोध हुआ, भाषाई दंगे हुए वह, भी इसी तथ्य की ओर संकेत करते हैं । वास्तव में स्वतन्त्र-भारत में अखण्ड राष्ट्रीय दृष्टिकोण विकसित ही नहीं हुआ । समूचा भारत राष्ट्र लोगों की निगाह में नहीं । राजनीतिक दलों की कार्यकारिणी समितियों के सभी सदस्य मिलजुल कर निर्णय लेने के स्थान पर निर्णय का भार किसी एक छोटे-से समुदाय या समिति पर या अध्यक्ष पर छोड़ देते हैं । इस प्रकार एक या दो व्यक्तियों द्वारा राष्ट्रीय जीवन संचालित हो रहा है । शेष लोग मूक-बधिर की भाँति हैं । देश में भेदभाव जारी है । ऊपर के और नीचे के लोगों में टकराहट है । इसलिये संविधान के अनुसार जब तक समाज में समता नहीं लाई जाती, जब तक साम्प्रदायिकता और जातिवाद का विष दूर नहीं कर दिया जाता, तब तक देश में सामाजिक क्रान्ति नहीं लाई जा सकती । क्या कारण है हिन्दुओं के लिये हिन्दू कोड बिल बना, मुसलमानों और ईसाइयों के लिये कोई कोड बिल नहीं बना । क्या सामाजिक समता लाने के लिये एक कोड बिल नहीं बन सकता था ? या इसके पीछे भी वोट की राजनीति है ?

संसदीय या पार्लमेंटरी प्रजातन्त्र का भविष्य भी उज्ज्वल दिखाई नहीं देता । संसद भवनों में निर्णय लेने के स्थान पर नेता लोग जनता को उभाड़कर हिंसात्मक वातावरण उत्पन्न करने, घेराव करने, हड़ताल कराने और आमरण अनशन करने आदि में अधिक विश्वास करते हैं । जनता में यह धारणा बैठ गई है कि डराने-धमकाने, नेताओं और अफसरों की जेब गरम करने, 'टिप्पस भिड़ाने' और 'Muscle man' द्वारा सब काम हो जाता है । कायदा-कानून कोई चीज़ नहीं, 'जाया राम गया राम'

जैसी उक्तियां प्रचलित हो गई हैं और संसद तथा विधान सभाओं के सदस्य बिकने लगे हैं। इस सम्बन्ध में कुछ लोग डिक्टेटरशिप लाने की बात भी करते हैं। यह चिन्त्य है। एशिया में प्रजातन्त्र की सफलता के लिए अमरीका और यूरोप के लोग भारतवर्ष की ओर देखते हैं। हमारा संविधान भी प्रजातांत्रिक सिद्धान्तों पर आधारित है और गणतन्त्र तथा स्वतन्त्रता दिवस पर हम उसकी शपथ भी लेते हैं। बालिग मताधिकार भी प्रचलित है। किन्तु प्रजातंत्र को जिस प्रकार भीड़तन्त्र में परिवर्तित किया जा रहा है और निष्पक्ष चुनावों के सम्बन्ध में जिस प्रकार सन्देह होता जा रहा है, चुनावों के समय जिस प्रकार साम्प्रदायिक, जातिगत और वर्गगत भावनाएं उत्तेजित की जाती हैं उससे भारत में प्रजातंत्र की सफलता के सम्बन्ध में सन्देह होने लगता है। हमारे संविधान में भी अनेक बार संशोधन हो चुके हैं। संविधान में अनेक अच्छी बातें हैं। तो भी ऐसा प्रतीत होता है कि संविधान के निर्माताओं ने भारतीय सामाजिक परिस्थितियों को ध्यान में न रखकर ब्रिटिश, अमरीका और रूस के संविधानों की अच्छी-अच्छी बातें लेकर संविधान रच डाला। उसमें सामुदायिक सामाजिक जीवन को प्रोत्साहन देने और राजनीतिक समस्याओं का समाधान करने की शक्ति का अभाव प्रतीत होता है। संविधान के अतिरिक्त प्रजातंत्र में कुछ स्वस्थ परम्पराएं (अलिखित संविधान) बनती हैं। हमारे देश में ऐसी परम्पराएं नहीं बन पाईं। बहुमत द्वारा चुने जाने के कारण कोई राजनीतिक दल अपने को सब कुछ-गलत या सही- करने योग्य समझे, अपने को बुद्धि का ठेकेदार समझे, यह मनोवृत्ति पार्लिमेंटरी प्रजातन्त्र के लिए घातक है। भाई-भतीजावाद और पक्षवाद खाज में कोढ़ का काम कर रहे हैं। संविधान अब तक बंधा हुआ है और सभी चुनाव शान्तिपूर्ण ढंग से सम्पन्न हो चुके हैं, यह बहुत बड़ी बात है। एक संविधान और एक राष्ट्रीय

ध्वज के अन्तर्गत देश एकता के सूत्र में बंधा हुआ है, यह हमारे लिए गर्व की बात है। तो भी देश में ऐसी शक्तियाँ और प्रवृत्तियां पनप रही हैं जो देश के पार्लियामेन्टरी प्रजातंत्र के लिए घातक सिद्ध हो सकती हैं। असामाजिक और प्रतिक्रियावादी तत्वों को दबाने की सख्त ज़रूरत है। देश बदला है और बदल रहा है। कांग्रेस अब स्वतन्त्रता-पूर्व की कांग्रेस नहीं रह गई और अनेक राजनीतिक दल उसके विरुद्ध उठ खड़े हुए हैं। यह शुभ है। प्रजातंत्र में एक सशक्त विरोधी दल का होना आवश्यक है। किन्तु उन्हें क्षेत्रवाद, भाषावाद, जातिवाद, पारस्परिक कलह और फूट डालने वाले दल नहीं होना चाहिए। उन्हें राष्ट्रीय हित सर्वोपरि रखना चाहिए और अशोभनीय काम न कर जन-कल्याण की बात सोचनी चाहिए। संविधान की प्रतियां जलाई जायें, राष्ट्रीय झंडे फाड़ कर फेंके जायें, यह भारत माता का मुंह काला करने का जघन्य पाप है। लूटमार करने और खाली नारेबाज़ी करने से राष्ट्र की शक्ति बनी नहीं रह सकती। मंत्रियों और नेताओं का 'राजा-महाराजाओं' जैसा ऐशो-आराम का जीवन व्यतीत करने से बाटु-कारों की बन पड़ेगी। आलोचना-प्रत्यालोचना का भी प्रजातंत्र में महत्त्व-पूर्ण स्थान है। किन्तु वह उच्चस्तरीय और सर्जनात्मक होनी चाहिए। खण्डन के साथ-साथ मण्डन भी हो तो अच्छा होगा। प्रजातन्त्र में आत्म नियंत्रण बहुत आवश्यक है। तभी प्रजातंत्र से हमारी आशाएं पूर्ण हो सकेंगी।

इस प्रकार अराजकतापूर्ण परिस्थितियों, वर्ग-विभाजित विचार-पद्धति, घोर व्यक्तिवाद, स्वार्थान्धता आदि ने राष्ट्रीयता को चुनौती दे रखी है। हिंसात्मक साधनों, मुकौटों, कथनी-करनी का अन्तर, कोरी आन्दोलनात्मक प्रवृत्ति आदि ने देश में विषमता उत्पन्न कर दी है।

गांधी जी के 'सत्याग्रह' में से 'सत्य' तो गायब हो गया है, केवल 'आग्रह' रह गया है। 'राजनीतिक हिंसाओं' का बाज़ार गर्म है। पार्लियामेंटरी प्रजातन्त्र की इन घातक शक्तियों को दबाने में केन्द्रीय सरकार और स्वयं राजनीतिक नेताओं को, संकुचित दलीय मनोवृत्ति से ऊपर उठ कर, केवल विरोध के लिए विरोध न कर साहस और दूरदर्शिता से काम लेने की आवश्यकता है। तभी पार्लियामेंटरी प्रजातन्त्र स्वस्थ एवं पुष्ट हो सकेगा।

देश के उपर्युक्त वातावरण और राजनीतिक परिस्थितियों के बीच स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास साहित्य की रचना हुई। उसकी गति में तीव्रता से परिवर्तन हुआ है और उसके स्वरूप में नई प्रवृत्तियों का समावेश हुआ है। उसने मानवीय और कलात्मक सार्थकता के अन्वेषण से अपनी यात्रा प्रारम्भ की। इस दौर में हर नया उपन्यासकार सृजनात्मक उपलब्धियों को स्पर्श करना चाहता था। उसने अनुभूतिपरक गहनता एवं समाज सापेक्ष दृष्टि से मनुष्य को उसके विराट एवं यथार्थ परिवेश में देखने - समझने का नया प्रयास किया। उसमें एक नई मूल्यपरक दृष्टि का विकास हुआ। आधुनिक व्यक्ति की सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि वह एक बिन्दु पर आत्म - केन्द्रित रहना चाहता है। इस समस्या ने आज के व्यक्ति में अनेक अन्तर्विरोधों को जन्म दिया है। देश की स्वाधीनता में उसने जिस मुक्ति की कामना की थी वह उसे बहुत-कुछ प्राप्त हुई। किन्तु आर्थिक वैषम्य, राजनीतिक विघटन, मूल्यों का पराभव, बढ़ती हुई कीमतें, भ्रष्टाचार और नैतिक पतन, चारित्रिक संकट एवं आत्मविश्वासहीन सन्दर्भों ने उसे उस सीमा तक प्रभावित किया कि भविष्य के प्रति उसके मन में कोई आशा शेष नहीं रह गई।

यह एक मोहभंग की स्थिति थी, जिसमें सबसे बड़ा योगदान देश के विभाजन का था। वह न केवल देश का विभाजन था, वरन् मानव-मूल्यों के

विघटन का चरमोत्कर्ष था । हत्याएं, लूटपाट, रक्तपात और शरणार्थियों का लम्बा सिलसिला- आधुनिक सभ्यता यहां एक बिन्दु पर आकर अभिव्यक्त हो गई । विभाजन ने विद्वेष, घृणा, मानवता के ह्रास की जो समस्या उत्पन्न की उसमें सभी परम्परागत मूल्य ढह गए । यह एक भयंकर संक्रमण की स्थिति थी, जिसने सारे विश्वासों को विध्वंस कर स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद के व्यक्ति को पंगु और अपाहिज बनाकर बैसाखियों के सहारे घिसटते रहने की नियति दे दी ।

हिन्दी के प्रसिद्ध उपन्यासकार अमृतलाल नागर के `महाकाल` (१९४७) में बंगाल के मोनाई गांव में मनुष्य-निर्मित अकाल के समय मृत्यु की विभीषिका के लिए अंग्रेज सरकार, जमींदार और पूंजीवाद को, हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता को उत्तरदायी ठहराकर मानव-मूल्यों की अवपरीक्षा की गई है । मध्यमवर्गीय अरुण जब सफल नेता नहीं बन पाता तो काला धन्धा करता है । इस उपन्यास में जिन राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक समस्याओं का अंकन हुआ है उससे आन्तरिक संकट-बोध की समस्या सामने आती है । `बूंद और समुद्र` (१९५६) नागर जी का प्रसिद्ध उपन्यास है जिसमें महिपाल, सज्जन, वनकन्या और बाबा राम जी दास प्रमुख पात्र हैं । वनकन्या का कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्यों के साथ सम्पर्क है । अपनी भावना की ट्रेजडी के लिए वह कम्युनिस्ट पार्टी की मात्र चुनाव जीतने के लिए प्रचारात्मक नीति को उत्तरदायी समझती है । राजनीतिक संस्थाओं की वास्तविकता के सम्बन्ध में वह कहती है : `जिस व्यक्ति की पीड़ाओं का सामूहिक रूप में दर्शन कर ये राजनीतिक सिद्धान्त बने हैं, उसकी अनुभूति, उसकी तड़पभी अब हमारे मन से निकल गई है । हमारी नज़र अब सिर्फ पोलिटिकल रह गई है —सिर्फ पोलिटिकल- कोल्हू के बैल की तरह आदत के कारण चक्कर काटते चले जा रहे हैं, काम

कुछ भी नहीं रहा ।'[1] लेखक ने पूंजीवादी व्यवस्था के फलस्वरूप सामाजिक आर्थिक विषमताओं का भी विरोध किया है । मध्यमवर्गीय समस्या इसी पूंजीवादी समस्या से जुड़ी हुई है जिसे मुख्यत: महिपाल-परिवार द्वारा चित्रित किया गया है । महिपाल की आत्महत्या भारत की आत्महत्या का प्रतीकात्मक रूप धारण कर लेती है और वह देश की जड़ता और गंदगी की ओर इंगित करती है ।[2] चारों ओर गंदगी है । स्त्रियों के वोट डालने का किस्सा अत्यन्त रोचक है । वास्तव में लेखक ने स्वातंत्र्योत्तर भारत के प्रथम चुनाव के आसपास १९५१ और कुछ बाद की परिस्थितियां चुनी हैं और लखनऊ खास तौर से, चौक को कथा-क्षेत्र चुना है । राजनीतिक परिस्थितियां वनकन्या के भावज के जल मरने से तथा आगे के आयोजनों से सम्बद्ध कर दिया गया है । उपन्यास के अन्त में पात्र सज्जन कहता है — 'भारतीय अब भूल गया है कि वह भारतीय है, वह कांग्रेसी है, सोशलिस्ट-जनसंघी-कम्युनिस्ट-अकाली है, वह यश-सिद्ध कवि, कलाकार, नेता, डाक्टर-बैरिस्टर-अफसर या समाज में कुछ और है मगर अधिकांश में भारतीय नहीं, मानव भी..... नहीं । ये लोग प्राय: दिन-भर देश और मानवता के नाम को भींकते हैं, पर यह नहीं जानते कि उनका देश क्या है ।'

'बूंद और समुद्र' से उद्धृत ये अंश भी उनके राजनीतिक दृष्टिकोण पर प्रकाश डालते हैं : 'हमारे आज के लोक-जीवन में फैले अविश्वास का दूसरा कारण आज की राजनीतिक पार्टियां हैं ।....... राजनीति

---

१. अमृतलाल नागर : 'बूंद और समुद्र', पृ० सं० १३३

२. वही, पृ०सं० ६०४ ।

जिस रूप में आज प्रचलित है, वह तनिक भी प्रगतिशील शक्ति नहीं है । राजनीति केवल दाँव-पेंचों का अखाड़ा है, मानव-हित के आदर्श से हीन, व्यक्तिगत अहंकार के कारण राजनीतिके खिलाड़ियों की बुद्धि, चतुराई और कार्य-कुशलता बहक गई है । वर्तमान राजनीति का जन्म साम्राज्यवाद से हुआ है । इसी साम्राज्यवाद की नीति से औद्योगिक पूँजीवाद को शक्ति प्राप्त हुई है ।' अथवा ' इस देश की प्रतिक्रियावादी राजनीतिक शक्तियाँ भारतीय परम्पराओं को केवल रूढ़ियों में देखती हैं ...... ' इस उपन्यास में लेखक का मानवतावादी दृष्टिकोण उभरा है और उन्होंने बताया है कि मनुष्य में अपनी सामर्थ्य पहचानने की शक्ति होनी चाहिए । लेखक ने इस उपन्यास में आधुनिक मध्यमवर्ग की विशेषताओं, समस्याओं आदि का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में विश्लेषण किया है और वह भी एक विराट चित्र-फलक पर । इसमें यत्र-तत्र राजनीति के सम्बन्ध में संकेत हैं अवश्य, किन्तु राजनीति का अधिक चित्रण न कर लेखक ने मनुष्य का आत्मविश्वास जगाया है । इसमें निर्माणात्मक कार्यों के लिए चलाए गए भूदान आन्दोलन की महत्ता प्रदर्शित की गई है । उनका 'शतरंज के मोहरे' (१९५९) शीर्षक उपन्यास प्रधानत: १८५७ से पहले के अवधि से सम्बन्धित ऐतिहासिक उपन्यास है, और उसमें तत्कालीन जीवन का बहुविध चित्रण है, किन्तु उसके माध्यम से वर्तमान भारत की राजनीतिक गतिविधि की दुर्बलताओं को दूर करने के लिए जनवादी दृष्टि ग्रहण की गई है और जगह-जगह पर सामंतवाद और अंग्रेजों के गठबन्धन की निन्दा की गई है । प्रस्तुत विषय की दृष्टि से उनका 'अमृत और विष' (१९६६) उपन्यास भी उल्लेखनीय है । इस उपन्यास में रमेश का नगर के पूँजीपति और चोर-बाजारी में चचा लाला रूपचन्द की टक्कर में आता है तो उपन्यास का मूल संघर्ष स्पष्ट हो जाता है और स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय राजनीति की दिशा ,

धन-लोलुपता, पद-लोलुपता, शोषण, द्वितीय महायुद्ध के समय पनपे व्यापारी, खद्दरधारी जन सेवक और नेता ' सामने आ जाते हैं। तीन तीन कथा स्तरों का एक साथ निर्वाह करते हुए नागर जी ने सामयिक राजनीतिक अनशन, दांवपेंच, आन्दोलन, चोरबाजारी, राष्ट्रीयता, दिशाहीन मध्यमवर्ग और स्वातन्त्र्योत्तरकालीन भारती जीवन के संक्रमण का चित्रण किया है। उसमें युवावर्ग का आक्रोश है। परिवर्तनशीलता की तीव्र अकुलाहट है, देश के नवयुवकों का राष्ट्रीय महत्त्व का संगठन, राजनीतिक सन्दर्भ लेते हुए, प्रसंग है। लल्लू जैसे लोगों की देशसेवा अपना कैरियर बनाने के लिए ढकोसला है जो उसके पतन का कारण बन जाता है। लेखक ने बताया है कि आज धर्म, नीति, पूंजीवादी, समाजवाद, सब अवसरवाद पर टिके हैं। स्वतंत्र-भारत में फैली अराजकता, भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद, अवसरवादिता, मूल्यहीनता, झूठे मुखौटे, आडम्बर, कायरता आदि चारित्रिक संकट सहित राजनीतिक जीवन की विशेषताएं बन गई हैं। चाटुकार अफसरों, नेताओं, मुनाफाखोरों के संकीर्ण स्वार्थों के कारण देश के खोखलेपन और मानसिक दासता का चित्रण उसमें अत्यन्त संवेदनशीलता और कहीं अत्यन्त भावुकतापूर्ण ढंग से किया गया है। 'सात घूंघटवाला मुखड़ा ' (१९६२) उनका लघु ऐतिहासिक उपन्यास है जिसमें मीरकासिम, शुजाउद्दौला और अंग्रेजों के बीच की अस्थिर राजनीति है।

उपर्युक्त राजनीतिक वातावरण के सन्दर्भ में महेन्द्र नाथ के 'आदमी और सिक्के ' (१९५२) उपन्यास में स्वतन्त्रता के बाद की बदलती हुई राजनीतिक गतिविधियों का वर्णन हुआ है। लेखक ने बताया है कि 'आजकल कांग्रेस का कोई उद्देश्य और लक्ष्य नहीं है। वह केवल शासन करना चाहती है। जब से देश स्वतन्त्र हुआ इन लोगों ने क्या किया ? न बेकारी कम

हुई, न चीज़ों के दाम ही घटे, न जनता का जीवन स्तर ही ऊँचा हुआ। आखिर इस आजादी का क्या फल हुआ। यह पूँजीवादका युग है और इस युग में असामाजिक कुरीतियों का प्रचलन है। जब तक इस युग को न बदला जायगा तब तक हालत न सुधरेगी। हाल ही में हुई चीन की क्रान्ति द्वारा जनता की दशा एकदम सुधार दी गयी है। भूखों और नंगों को अन्न, नौकरी और वस्त्र दिये हैं। उन्होंने देश में भ्रष्टाचार को जड़ से उखाड़ फेंकता है। अगर रूस और चीन अपने देश से बेकारी, भ्रष्टाचार, वेश्यावृत्ति और ब्लैक मार्केटिंग दूर कर सकते हैं तो हम क्यों नहीं कर सकते। तो क्या पूंजीवाद के युग में रह कर हम बेकारी और भूख नहीं मिटा सकते। उपन्यास का पात्र राज पूंजीवाद के युग के सम्बन्ध में थोड़ा बहुत जानता था, लेकिन पुस्तकें पढ़कर उसके मन में बिजली सी कौंध गई। आज तक इन्सान किस तरह प्रगति कर रहा है — आदिम कम्युनिज़्म से निकलकर वह जागीरदार युग में आया और जागीरदार के बाद पूंजीवाद, पूंजीवाद के बाद समाजवाद, समाजवाद के बाद कम्युनिज़्म- आज तक इन्सान आगे बढ़ता ही रहा है। इन्सान क्या है? वर्ग-संघर्ष किस प्रकार शुरू हुआ? पूंजीवाद किस प्रकार इजारेदार पूंजीवाद में बदला? क्या गोरी जातियां वास्तव में काली जातियों से उत्तम हैं? यह केवल अपनी सत्ता बनाए रखने के लिये और शोषण करने का एक ढंग है? क्या अमरीका में सचमुच लोकतन्त्र है या केवल एक ढकोसला, ढोंग और जनता को धोखा देने की चाल है। आज यह सत्य प्रतीत हो रहा है कि संसार के अधिक भाग में गरीबी, गुलामी और बेकारी का दौरदौरा था और सब कुछ पूंजीवाद का दुष्परिणाम था। जहां-जहां साम्यवाद की नींव पड़ी वहां-वहां बेकारी, भ्रष्टाचार और गरीबी की जड़ें खोदकर फेंक दी गई हैं।

जहाँ-जहाँ इन्कलाब आया है वहाँ-वहाँ डटकर लड़ाइयाँ लड़नी पड़ी हैं। जब एक वर्ग ने दूसरे वर्ग से शक्ति छीनी, तब वह वर्ग एक पग आगे बढ़ा। आज पूँजीवाद का युग दम तोड़ रहा है। वह आगे नहीं बढ़ सकता। अगर आज कोई शक्ति इसे आगे बढ़ा सकती है तो वह जनता की शक्ति है और इसी शक्ति के हाथों में आगडोर आने वाली है और इसी के हाथों यह गन्दा युग सदा के लिए समाप्त हो जायगा।

"नौकरी कैसे मिलेगी। किसी मंत्री से दोस्ती या रिश्तेदारी कर लो तो शायद नौकरी मिल जाय, वरना फाकामस्ती और कुछ नहीं। मैं तो जीवन से इतना तंग आ चुका हूँ कि कुछ समझ में नहीं आता, क्या किया जाय। इस देश की हालत नहीं सुधरती। इस देश की कमजोरियों और इस प्रकार की अयोग्यता से पर्दा उठाने का मैंने भरसक प्रयास किया और कोई यत्न उठा नहीं रखा। आज के युग में जो व्यक्ति दूसरों की जड़ काटे उसे लोग दुनियादार कहते हैं। जो जन साधारण को घृणा की दृष्टि से देखे उसे बुद्धिमान कहते हैं। आज की दुनिया में पुरुषार्थी, नेक सच्चे और साधारण आदमी कभी भी फल-फूल नहीं सकते। जो ब्लैकमार्केटिंग कर सके, अपनी आत्मा बेच सके, दूसरों का लहू पी सके, जिनमें जनसाधारण के साथ सहानुभूति न हो, जो भूख और बेकारी का इलाज नहीं करना चाहते वही व्यक्ति ठीक है।

"यह युग, यह पूँजीवाद का युग दलालों की एक विस्तृत मंडी है, चारों ओर, हर सड़क पर, हर नुक्कड़ पर ये दलाल काले लबादे ओढ़े, इन्सानों की दलाली करते हैं जनसाधारण के खून पर, उनकी कमाई पर, ऊँची-ऊँची दुकानें बनाते हैं। तुम इसे राजनीति कहते हो, प्रजातंत्र नहीं, सच्चा प्रजातंत्र नहीं, केवल प्रजातंत्र की दलाली है" इस उपन्यास में महेन्द्रनाथ ने समाज के मध्यवर्गीय परिवार का भी चित्रण किया है।

वैसे तो प्रत्येक उपन्यास देश, काल, परिस्थिति का चित्रण करता है, किन्तु गांधी युग के अवसान के बाद स्वतन्त्रता की प्राप्ति और संक्रान्ति काल के बाद किसी अंचल के जनजीवन के सर्वांगीण चित्रण की ओर या उसके अन्तरंग जीवन के चित्रण की ओर लेखकों का झुकाव अधिक मिलता है जिसमें आंचलिक जन-जीवन का चित्रण साधन नहीं, साध्य बन जाता है और उपन्यास के सभी तत्व उसके पोषक बन जाते हैं। आंचलिक उपन्यासों में अंचल विशेष की लोक-संस्कृति, प्रकृति आदि का सांगोपांग चित्रण मिलता है। राष्ट्रीयता के नीचे प्रस्तुत आंचलिक भाव-धारा प्रखर होती गई है। किन्तु संचार-साधनों के सुलभ हो जाने से आंचलिकता मन्द पड़ती जा रही है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद जब देश को धक्का लगा और राष्ट्रीय भावना के स्थान पर देश की राजनीति में स्वार्थान्धता, आत्म-रति ने घर लिया और अनेकता में एकता के स्थान पर एकता में अनेकता का रूप सामने आया तो आंचलिक उपन्यासों का भी वह विषय बना। इसका एक उदाहरण रेणु का 'मैला आंचल' या नागार्जुन कृत 'बलचनमा' है। इन उपन्यासों में विघटन युग की चेतना व्यक्त हुई है। सफल आंचलिक उपन्यास वही माना जा सकता है जो अंचल विशेष का होते हुए भी सार्व-भौम हो जाय। आंचलिक उपन्यास में जीवनगत वैविध्य और अनेकरूपता की आवश्यक पृष्ठभूमि होती है। देश काल की महत्ता के रहते हुए भी उसमें शक्ति तो मूलसंवेदना में रहती है जो उसका संप्रेषणीयता का आधार है। इसमें अंततः मानव-सत्य सामने आना चाहिए। एक अंचल के साथ ही 'रेणु' ने एक विशेष काल को अपनी चर्चा का विषय बनाया है। वह काल है स्वतन्त्रता-प्राप्ति से कुछ पूर्व और महात्मागांधी के निधन तक का। इसी काल की राजनीतिक गतिविधि मेरीगंज अंचल में दिखाई गई है। बावनदास की हत्या वास्तव में गांधीवाद की हत्या है। राजनीतिक

कार्यकर्ताओं की दुर्बलताओं पर भी लेखक ने प्रकाश डाला है । वह स्वयं तटस्थ है । उसमें राजनीतिक दलों के नारे हैं -- यद्यपि उसमें जीवन के उपेक्षित क्षेत्रों की ओर दिए गए ध्यान के पीछे देश की राजनीतिक स्वतंत्रता और प्रजातांत्रिक विधान की स्थापना है ।

वास्तव में `रेणु` कृत `मैला आंचल` (१९५४) में राजनीतिक मतवाद लेखक की संवेदना पर हावी नहीं हुए । इस उपन्यास में उस मानवीय-संकट की ओर संकेत किया गया है जिसके अन्तर्गत मनुष्य मनुष्य का संहार करने पर तुला हुआ है और इसीलिए जो राजनीति मानव-कल्याण की दृष्टि से प्रेरित होनी चाहिए थी वह आज स्वार्थ से पूर्ण है और उससे किसी का भला नहीं हो पाता । उसमें अनैतिकता आ गई है । उपन्यास में अनेक पात्र हैं और उनके माध्यम से लेखक ने राजनीतिक विकृतियों को रेखांकित करने की चेष्टा की है । वर्तमान राजनीतिक स्वार्थ एवं कटुता से आहत होकर भारत-पाक सीमा पर बावनदास का गाड़ी के नीचे आकर मर जाना उसकी मानवीयता को ही स्पष्ट करता है कि वह बिना किसी स्वार्थ के गांधीजी की आध्यात्मिक विचारधारा को अपने अन्दर `आत्मसात` कर सका था । उसके द्वारा मानवतावादी चिंतन प्रस्फुटित हुआ है । `रेणु` ने अपने इस उपन्यास में भारतीय ग्राम का सूक्ष्म चित्रण किया है । स्वतन्त्रता के बाद ग्राम-जीवन में हुए परिवर्तनों को सूक्ष्म दृष्टि से उभारने के साथ-साथ लेखक ने राजनीति का समावेश कर उपन्यास की रोचकता बढ़ा दी है । जैसा कि पहले अध्याय में कहा जा चुका है कि आज राजनीति जीवन में इतनी घुल गई है कि कोई संवेदनशील उपन्यासकार उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता, भले ही वह उसे जीवन का सहज अनिवार्य अंग स्वीकार न कर शंका की दृष्टि से देखे । `मैला आंचल` में राजनीति को जीवन का अपरिहार्य अंग स्वीकार कर ऐसी राजनीति का चित्रण

किया गया है जिसमें संकीर्णता नहीं है, जिसका अपना सहज-स्वच्छन्द प्रवाह है। उसमें राजनीतिक धरातल पर जीवन की सहज विविधता और साथ ही तीव्र संघर्ष का चित्रण हुआ है। तो भी इस उपन्यास में राजनीति कहीं भी पात्रों पर हावी नहीं हो पाई। कोई भी पात्र राजनीति का कीड़ा नहीं बनता। राजनीति उनके जीवन की पृष्ठभूमि में है। वह उसका पेशा नहीं है। 'रेणु' के 'परती परिकथा' (१९५७) में भी राजनीति का स्थूल-बाह्य चित्रण तो नहीं हुआ, किन्तु उसमें व्यापक राजनीतिक आन्दोलनों के फलस्वरूप मनुष्य की आकांक्षाओं और दुर्बलताओं का बड़ा ही यथार्थपूर्ण चित्रण हुआ है। परानपुर के जीवन में सर्वोदय आन्दोलन आदि तनाव पैदा करते हैं और साथ ही मानवीय वृत्तियों की कटुता, संकीर्ण दृष्टिकोण, वैयक्तिक स्वार्थों की टकराहट, राजनीतिक दलों की अवसरवादिता और उच्च आदर्शों के नीचे छिपी हुई विकृतियों को प्रकट करते हैं। इस प्र उपन्यास की कथा का वह समय था जब जमींदारी-प्रथा लगभग समाप्त हो चुकी थी और जमींदार किसी-न-किसी तरकीब से किसानों की जमीनें हड़पने की कोशिश कर रहे थे। गांव में अनेक राजनीतिक पार्टियां और नेता पैदा हो जाने के कारण वातावरण दूषित हो जाता है। सस्ती राजनीति और सस्ती नेतागीरी। केवल जितेन्द्र ही वहां प्रकाशस्तम्भ की भांति है।

उदयशंकर भट्ट कृत 'सागर लहरें और मनुष्य' (१९५६) एक प्रसिद्ध उपन्यास है। उसका सम्बन्ध बरसोवा गांव के जीवन से है। उसमें मछुआरों के जीवन को वाणी मिली है। लेखक की दृष्टि व्यष्टिमूलक है। कथा का सम्बन्ध विडम्बनाओं, छलनाओं और कुंठाओं से घिरे महानगरी के जीवन से भी है। व रत्ना, माणिक, यशवन्त और पाण्डुरंग प्रमुख पात्र हैं। केन्द्र में रत्ना है। माणिक पूंजीवादी संस्कृति की देन है। रत्ना

के माध्यम से लेखक ने सामन्ती रूढ़ियों और पूंजीवादी मान्यताओं का खण्डन किया है। आधुनिकता को लेखक ने निजी स्तर पर स्वीकार किया है। सम्पूर्ण उपन्यास रत्ना, माणिक, रत्ना तथा माणिक, और यशवंत नामक चार खण्डों में विभक्त है। क्योंकि उपन्यास का सम्बन्ध गरसौवा गाँव के जीवन से है, इसलिए यह उपन्यास प्राय: आँचलिक उपन्यासों के वर्ग में रखा जाता है। उनके 'शेष अशेष' (१९६०) उपन्यास में साधु-जीवन पर प्रकाश डाला गया है। ये साधु स्वतंत्रता -संग्राम में सक्रिय भाग लेते हैं। क्रान्तिकारियों का साधु-वेश धारण कर राष्ट्रीय आन्दोलन को आगे बढ़ाने में योगदान इस उपन्यास की विशेषता है।

यशपाल के 'झूठा सच' की भाँति 'एक मामूली लड़की' (१९५१), 'निशि' (१९५३) तथा 'उजला' (१९५६) के बाद बलवन्त सिंह का महत्त्वपूर्ण उपन्यास 'काले कोस' (१९५७) भी विभाजन पर आधारित उपन्यास है जिसकी कथा सिराज, विरसा सिंह, गोविन्दी, पेशौरासिंह दिल मोहम्मद बेला, सूरतसिंह आदि पात्रों के माध्यम से प्रस्तुत की गई है। उसमें मानवतावादी दृष्टिकोण ग्रहण करते हुए लेखक ने तत्कालीन संक्रान्तिकालीन परिस्थितियों का चित्रण किया है। उसमें मातृभूमि के प्रति प्रेम की भावना है। साधारण इन्सानों के दिल एक थे। जिन मुट्ठी भर लोगों ने विभाजन कराया था वे स्वार्थी और मूल्य-मर्यादा-विहीन राजनीति को मानवीय-स्थितियों के बीच चित्रित करने का सफल प्रयास किया है। उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों की अलग-अलग होने की मनोवृत्तियों का खण्डन किया है।

यज्ञ दत्त शर्मा के 'सच का साथी' (१९६०) उपन्यास में सन् १८५७ का गदर आन्दोलन, राष्ट्रीय आन्दोलन, भ्रष्टाचार, मुनाखोरी आदि का

वर्णन हुआ है । इस उपन्यास के प्रमुख पात्र आचार्य जी हैं । वह कांग्रेस के नेता हैं । वह देश में अहिंसा के द्वारा स्वराज्य-प्राप्त करना चाहते हैं । इस उपन्यास में देश के राजनीतिक उलट-फेर तथा अंग्रेजों के अत्याचार का वर्णन हुआ है । देश में सरकार का दमन-चक्र के साथ-साथ असहयोग आन्दोलन भी जोर पकड़ता जा रहा था । दमन-चक्र यदि कौंधती हुई विद्युत थी, तो असहयोग आन्दोलन एक काला-काला विशालकाय तूफानी बादल था । उस दमदमाती हुई विद्युत को अपने कलेजे में समेटकर रख लेता था और वेग से आगे बढ़ता ही जाता था ।

भारतीय जनता की स्वतन्त्र मनोवृत्तियाँ उद्वेलित हो चुकी थीं । सन् १८५७ में जनता को कुचलकर कुछ समय के लिए अचेत कर दिया था । परन्तु वह अचेतनता स्थायी नहीं थी, वह अस्थायी थी, रुक चुकी थी । राष्ट्र फिर से आँखें मलकर खड़ा हो रहा था । एक नई स्फूर्ति और नई चेतना के साथ देश का सम्पूर्ण वातावरण विदेशी शासन के प्रति विद्रोह की भावना से भर गया था । देश में एक कोने से दूसरे कोने तक देश-भक्ति की ज्वाला धधक उठी और अंग्रेजी शासन की इस्पाती दीवारें भी गर्म होकर पिघलने लगीं । शासन के पुतले उनके अन्दर बैठे ही बैठे बेचैन हो उठे । देश के नौजवानों को भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम का सिपाही बनाने के लिए आमन्त्रित किया गया । किन्तु स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद आज की राजनीति के पीछे ऐश्वर्य की दुनिया मुस्करा रही है । उस आकर्षण के पीछे आज के अधिकांश राजनीतिज्ञ दौड़ रहे हैं । हमारा देश विदेशी शासन के बन्धनों से मुक्त हो गया है, यह सच है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि हमारी समस्याएँ हल हो गई हैं । हमारी अनेक समस्याएँ ज्यों-की-त्यों वर्तमान हैं । हमारी अनेक सामाजिक समस्याएँ हैं जो इतनी जटिल हैं कि उन्हें कानूनों से नहीं सुलझाया जा सकता । परम्परा-

गत कुरीतियों और अन्धविश्वासों से संघर्ष लेना विदेशी शासकों से संघर्ष लेने से कम कठिन और कम महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं है । हम देख रहे हैं राष्ट्रीय जीवन में कुरीतियां बढ़ती जा रही हैं । इससे हमारा राष्ट्र पतनोन्मुख हो रहा है । राष्ट्र की इस दिशा का सुधार शासन के अंकुश से हो सकता , अंकुश की नोक दिखलाकर सुलझाया गया मार्ग चाहे सही भी हो, आस्था को स्वीकार करने में कठिनाई होती है । हमें प्रेम और सद्भावना का मार्ग अपनाना है, और उसी के द्वारा राष्ट्र के जीवन की कमजोरियों पर प्रकाश डालना है । राष्ट्रीय जीवन में जितनी धोस और चालबाजी घुस गई है यह सब वर्तमान राजनीति की देन है । इस ओछी और पिछली राजनीति से राष्ट्रीय जीवन की रक्षा करना नितान्त आवश्यक है । इसने राष्ट्रीय जीवन को विश्रृंखल कर दिया है, पारस्परिक प्रेम और सद्भावना को जड़ से उखाड़कर फेंक दिया है । अपनी सरकार से जो आशाएं थीं उन्हें पूर्ण करने में हमारी सरकार नितान्त असफल सिद्ध हुई है । जनता में फैले अन्धविश्वास को देश के नेताओं ने अपने राजनीतिक दृष्टिकोण से दूर करने का प्रयत्न ही नहीं किया, वरन् और बढ़ावा दिया है । इस शासन-काल में भ्रष्टाचार को प्रश्रय मिला है । घूसखोरी का बाजार विदेशी शासन की अपेक्षा आज अधिक गर्म है । शासन की बागडोर इतनी ढीली पड़ गई है कि बहुत सी योजनाएं कार्यरूप में परिणत होते-होते निरर्थक हो जाती हैं ।

डेमोक्रेसी का जो सबसे बड़ा दुष्परिणाम भारत को भुगतना पड़ रहा है वह यह है, कि देश के राजनैतिक दल जनता में शताब्दियों पूर्व से चले आए हुए अन्धविश्वासों एवं कुरीतियों का इसलिए विरोध नहीं करते, कि कहीं लोग नाराज होकर उन्हें चुनावों में अपना मत न दें । हमारे देश में

इन दिनों की सबसे दु:खद घटना है वह है चरित्र की भ्रष्टता । इन दिनों भारतीय जनता का चरित्र बहुत गिरा हुआ है । पारस्परिक प्रेम और सहानुभूति को ज़बरदस्त धक्का पहुँचा है । इसके उत्तरदायी देश के वे दल हैं जो अपने आपको राष्ट्र के मार्गदर्शक समझते हैं । उनकी प्रवृत्तियों के प्रभाव से आमजनता के विचारों में भ्रष्टता का समावेश हो रहा है । आज देश में इस सब के विरुद्ध एक क्रान्ति की आवश्यकता है । वर्ग-विहीन समाज की कल्पना ही वास्तव में हमारे देश को स्वर्ग बना सकती है । जब तक राष्ट्र विभिन्न वर्गों में बंटकर चलेगा तब तक पारस्परिक राग-द्वेष और कलह का निपटारा नहीं हो सकता, राष्ट्र मज़बूत नहीं बन सकता ।

राष्ट्र को सुसंस्कृत, सुसभ्य और सुदृढ़ बनाने के लिए वर्ग-विहीन समाज की स्थापना नितान्त आवश्यक है । तब तक राष्ट्र की प्रगति अधूरी ही रहेगी । राष्ट्र समरसता के साथ आगे नहीं बढ़ सकता । राष्ट्रीय जीवन में समरसता के लिए वर्ग-विहीन समाज की कल्पना को पूर्ण रूप देना नितान्त आवश्यक है । देश के चन्द स्वार्थी व्यक्ति अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति के लिए इन बन्धनों को बनाए रखने पर उतारू हैं ।

इसी पीठिका के साथ चतुरसेन शास्त्री ने `उदयास्त`, (१९५८) में स्वातन्त्र्योत्तर भारत के ग्रामीण-जीवन की राजनीतिक परिस्थितियों और आर्थिक विषमताओं का चित्रण किया है और सामंती-पूंजीवादी वर्ग की पराजय दिखाई है । राजगढ रियासत में राजा रुद्रप्रतापनारायण सिंह और वहाँ के चमारों में, राजनीतिक चेतना के कारण, संघर्ष होता है । चमारों का नेता मंगतराय है, जो कम्युनिस्ट नेता वहीद है । वहीद जनता के राज की दुहाई देता हुआ पूंजीपतियों वर्ग पर व्यंग्य कसता है । मंगतु कांग्रेस का प्रतिनिधि है । असेम्बली के चुनाव में राजा साहब का रुपया कांग्रेस को भी खरीद लेता है । यह है जनतंत्र । `भूला के पंख` उपन्यास में भी उन्होंने गणतंत्र

पर व्यंग्य किया है जिसमें अपढ़ जुगनू भी मंत्री बनकर शासन में शैथिल्य उत्पन्न कर देता है। अनन्त गोपाल शेवड़े के `भग्न मंदिर` (१६६०) में काँग्रेस की सत्ता-लोलुपता, भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद, नैतिकता का पतन आदि का वर्णन हुआ है। नेताओं की `नैतिकता` वहाँ है जहाँ स्वार्थ के लिए चरित्र को दाँव पर लगा दिया जाता है। इसी में मुख्य मंत्री लोग एक कुशल राजनीतिज्ञ एवं सत्तात्मक राजनीति की अखाड़े बाजी के सिद्धहस्त पहलवान भी हैं। इसीलिए वह एक दैनिक समाचार के लिए पत्र चलाने का स्वप्न देखते हैं।[1] अपने पत्र के महान पत्रकार देश भक्ति के आवरण में राजनीतिक कुचक्रों को अपना मोहरा बना लेते हैं। राजनीतिक सत्ता, शक्ति और स्वार्थ के इस बाजार में केवल उसी की प्रतिष्ठा सुरक्षित है, जो इन तथा अधिक सत्ता-सम्पन्न व्यक्तियों की जीहजूरी कर सकता है, जिसके हितों की उनके स्वार्थों से टकराहट नहीं होती। अपने व्यावसायिक स्वार्थों की पुष्टि के लिए वे प्रतिपक्षी की प्रतिष्ठा से खेलते हैं, क्योंकि अपनी तिजोरी भरने के लिए उनके पास इसके सिवा और कोई चारा नहीं है। इस उपन्यास में पत्रकारिता का उज्ज्वल पक्ष `क्रान्ति` व `कलुषपक्ष` `जागरण` व उसके सम्पादक की स्वार्थपूर्ण गतिविधियों को भी प्रकट किया गया है।

आज की राजनीति भ्रष्टाचार का केन्द्र बन गई है। `घूसखोरी और दलबन्दी है। ठेके सामान्य, सप्लाइयाँ-कोई ऐसा धन्धा नहीं जिसमें उनके रिश्तेदारों का साझा न हो। भले सरकारी अफसर उनसे डरते हैं, और

---

१. अनन्त गोपाल शेवड़े : `भग्न मन्दिर` , पृ०सं० ५१

चलते पूर्व अफसर उन्हीं की खुशामद करके तथा उन्हें अपनी दलाली देकर तर-क्कियाँ करा लेते हैं । आतंक ही नहीं, दोनों हाथ लूट खसोट जारी है ।" नेताओं के अपढ़ लड़कों को भी उच्च पद दिए जा रहे हैं और डाक्टरेट पास व्यक्ति झक मार रहे हैं ।

"भग्नमन्दिर" में एक प्रदेश के ऐसे मुख्य मंत्री के प्रशासन में व्याप्त भ्रष्टाचार की कहानी चित्रित है, जो स्वतन्त्रता के पूर्व त्यागी, राष्ट्रभक्त और कर्मठ सेनानी थे, पर वही सत्ता प्राप्ति के उपरान्त भ्रष्टाचार के गर्त में फँस जाते हैं ।

"भग्न मन्दिर" में शिक्षा क्षेत्र में व्याप्त भ्रष्टाचार के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए लेखक का कथन है, "स्कूल कालेज खुलते तो आदमियों द्वारा चलाई गई संस्थाओं की ग्राण्टों के लिए धाधाधाई होती है, प्रोफेसर प्रिंसि-पल की नियुक्तियों में हस्तक्षेप होता है, परीक्षाओं के पर्चे और रिजल्ट खुल जाते हैं, शिक्षा-विभाग के उच्चाधिकारी या मन्त्री के लड़के को जबरदस्ती नम्बर बढ़ाकर पहला नम्बर दे दिया जाता है और जो प्रामाणिक विद्यार्थी मेहनत और अध्ययन के साथ तैयारी करते हैं और जिनका प्रथम आने का हक था, उनका दिल तोड़ दिया जाता है ।" राजनीतिक सत्ता के इस खेल में हर व्यक्ति अपनी गोटी बैठाने में संलग्न है । राजनीति चंचल होती है, न जाने कल क्या हो जाय ? इसलिए दोनों हाथों पर हाथ रखने में फायदा है । राजनीतिक शोषण का एक अन्य रूप प्रतिद्वन्द्वी से बदला लेने के रूप में है ।

राजनीतिक प्रतिद्वन्द्वी मणिभाई लाल को आगे चुनाव में मात देने के लिए दैनिक पत्र एक बहुत बड़ा साधन दिखाई दे रहा है, अतएव जोशी जी ने धनंजय से गठबन्धन किया है क्योंकि उसकी टक्कर का पत्रकार आज इस प्रदेश में एक भी नहीं था । पत्र को निश्चित रूप से सरकारी नीतियों का पोषक और उनका प्रचारक होना चाहिए । यही कारण था कि धनंजय को

आस्था पर जोशी जी की पूँजी विजय पा रही थी और `युगान्तर` धीरे-धीरे अपनी स्वतन्त्रता, निष्पक्षता और तेजस्विता खो बैठा था और भ्रष्टाचार और चरित्रहीनता के चंगुल में फँसाने वाले मंत्रिमंडल का समर्थक बन गया था।`

लक्ष्मीनारायण टंडन कृत `आँधी के बाद` (१९६१) उपन्यास में भारत-पाक-विभाजन, लोकवाद, जातिवाद, हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष, स्वतन्त्रता के बाद बदला राजनीतिक दृष्टिकोण तथा भ्रष्टाचार आदि का वर्णन हुआ है। पाकिस्तान के हिन्दुओं और सिक्खों के कत्लेआम को देखकर बदला लेने की भावना राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ में हुई और उसने उसकी प्रतिक्रिया के रूप में दिल्ली में तमाम मुसलमानों को मौत के घाट उतार दिया। आज भी देश में हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष होते रहते हैं। संविधान में इस प्रकार के कानून बनाए जाने चाहिए जिससे कि जाति-पाँति का विनाशकारी भूत नष्ट हो सके। तभी देश का उत्थान हो सकेगा। भारतीय स्वतन्त्रता के युद्ध में यह समस्या बहुत ही जटिल और गम्भीर थी। भारत का विभाजन हो जाने के बाद कांग्रेसी मुसलमान दूरदर्शी था। पाकिस्तान में स्वतन्त्रता मिलने के पश्चात् हिन्दुओं और सिक्खों के खून से जो भीषण होली खेली गई उसकी भीषण प्रतिक्रिया भारत में भी हुई। किन्तु यह भी सत्य है कि भारतवर्ष में हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष शीघ्र ही दबा दिए गए थे।

उपेन्द्रनाथ `अश्क` के `गिरती दीवारें` (१९४७) और उसके आगे `शहर में घूमता आइना` (१९६३) और `एक नन्ही किन्दील`, `गर्म राख` (१९५२), `बड़ी-बड़ी आँखें` (१९५५), `पत्थर अल पत्थर` (१९५७) में मध्यमवर्गीय जीवन की विवशता, हार, लाचारी और संघर्ष का यथार्थ के स्तर पर अत्यन्त सुन्दर ढंग से वर्णन हुआ है। उदाहरणार्थ, `बड़ी-बड़ी आँखें` उपन्यास में लेखक ने संगीत और देवा के माध्यम से देवनगर

में प्रचलित घूसखोरी, भ्रष्टाचार, अनैतिकता, अत्याचार, शोषण आदि का 'चित्रण कर' देहात की तबाही, साथ ही निर्माण, की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। इस तरह के प्रसंगों से उन्होंने वर्तमान राजनीतिक अव्यवस्था, समाजवाद के खोखले नारों, जन-सेवा के नाम पर जनता से रुपया ऐंठ कर ऐयाशी करने, दफ्तरों में भ्रष्टाचार, नेताओं की पूंजीवादी मनोवृत्ति, चाटुकारिता, आदि का उल्लेख किया है। देवनगर भारतवर्ष का और देवा जवाहरलाल नेहरू का प्रतीक माना जा सकता है, क्योंकि जवाहरलाल के समय में ही कांग्रेस दल में दरारें पड़ने लगी थीं और राजनीतिक नेताओं में भ्रष्टाचार फैल गया था। पृष्ठ २३५ पर यह कथन उपन्यास का मर्म स्पष्ट कर देता है : "देवनगर मुझे देश सा लगा, जिसका प्रधान मंत्री उदाराशय, स्वप्नशील, भविष्यद्रष्टा हो, पर जिसके सहकारी अवसरवादी, चाटुकार और खुशामदी हों और जिसके दफ्तरों में भ्रष्टाचार और स्वजन-पालन का दौर दौरा हो। उसके सारे आदर्श धरे-के-धरे रह जायेंगे और देश रसातल को चला जायगा।"[1] लेखक ने गांधीजी के अनुकरण पर आश्रम-जीवन की कल्पना को साकार करने में लगे हुए स्वप्नजीवी लोगों और सर्वोदयी आदर्श प्रस्तुत करने वालों पर छींटाकशी की है।

राजेन्द्र यादवकृत 'उखड़े हुए लोग' (१९५७) में अपने जीवन से, कटे तो नहीं, उखड़े हुए लोगों का चित्रण है। स्वदेश अहल की जीवन-चर्या के माध्यम से गणतन्त्रात्मक राजनीतिक व्यवस्था का यथार्थ रूप सामने आता है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत देश की आत्मा पिस रही है। और साधारण व्यक्ति लेफ्ट कुचले-कुचले क्रम गया है। राजेन्द्र यादव के अनुसार संगठित विरोध ही इस अव्यवस्था को दूर कर सकता है।

1. उपेन्द्र नाथ अश्क : 'बड़ी-बड़ी आँखें', पृ० २३५

अन्यथा यह शोषण, यह दुःख-कष्ट यों ही चलता रहेगा । इस उपन्यास
में वर्ग-भेद तोड़ने की आवश्यकता बताई गई है । उखड़े हुए लोग पूंजीवादी
व्यवस्था से पिसते हुए भी यातनाओं और समझौतों के शिकार हैं । देश-
बन्धु एम०पी० इसका अपवाद है और वह पूंजीवादी है । वह बाहर से
समाजसेवी भीतर से स्वार्थ-सेवी है । `नेतागीरी` उसका व्यवसाय है ।
उसकी करनी और कथनी में अन्तर है । आज के राजनीतिक जीवन का भी
यही अभिशाप है । उनके `अन्धेरे बन्द कमरे` (१९६१) में स्वतन्त्रता के
बाद देश की सांस्कृतिक गतिविधि और राजनीतिक दांव-पेंचों के साथ
पारिवारिक जीवन में अँधेरे बन्द कोनों को अत्यन्त कौशल के साथ उजागर
किया गया है । कथानक की पृष्ठभूमि दिल्ली है । विदेशी आर्थिक सहा-
यता से चलने वाली सांस्कृतिक संस्थाएं, दूतावासों में वी०आई०पी०लोगों
द्वारा जिए जाने वाले जीवन की भिन्न स्थितियों में व्यतीत होने वाले
जीवन की कटुता और छटपटाहट व्यक्त करते हैं । जैसे वे एक महानगरी की
वह अनुभूति व्यक्त करना चाहते हैं जिसमें मूल्यहीनता है, स्नेह का अभाव
और मानवीय-सम्बन्धों की अर्थहीनता है । नीलिमा, हरबंस, मधुसूदन,
शुक्ला आदि इसमें प्रमुख पात्र हैं । राजेन्द्र यादव एक प्रकार से स्वतन्त्रता-
प्राप्ति के बाद के लेखक हैं । आजादी के बाद बदलते हुए मूल्यों को उन्होंने
भलीभांति देखा है । उनके `प्रेत बोलते हैं` जिसका संशोधित[2] संस्करण,
`सारा आकाश` है, `उखड़े हुए लोग` और `शह और मात` उपन्यास
प्रसिद्ध हैं । पहले में पुरातन संस्कारों द्वारा जीवन की अवरुद्ध गति का
चित्रण है, `उखड़े हुए लोग` में मध्यम वर्ग की शिक्षित युवा पीढ़ी के
माध्यम से पूंजी और सत्ता के गठबन्धन और शोषण पर दृष्टिपात कर
और घुटन तथा वातावरण में जीवन व्यतीत करने वाले शरद और जया को
`नेता भैया` देशबन्धु के `स्वदेश भवन` में पहुंचाकर यह प्रकाशित किया है कि
देशबन्धु, जो एम०पी० है और लोगों की निगाह में उदार धर्मात्मा और
त्यागी है, व्यभिचारी निर्मम और शोषण करने वाला है । लेखक ने सत्ता-
धारी पूंजीपतियों का भ्रष्टाचार उजागर किया है । `शह और मात`

भूति के विभिन्न स्तरों पर संवेदनाओं का चित्रण करता है ।

महेन्द्रकुमार मुकुल के `फौलाद का आदमी` (१९६४) उपन्यास में भारत-चीन आक्रमण का वर्णन हुआ है । चीन के अनायास आक्रमण की घटना को सुन गांव वालों के मस्तिष्क चिन्ताओं और विचारों के सागर में डूब गए । राष्ट्र की इस संकट की घड़ी में उनका क्या कर्तव्य है ? वे सोच नहीं पा रहे थे । नेहरू जी ने राष्ट्र के नाम सन्देश दिया " मैं बहुत दिनों से आपसे रेडियो पर बोल रहा हूं । राष्ट्र की इस संकट की घड़ी में मुझे बोलना जरूरी था । आज चीन ने हमारी सीमा पर भीषण आक्रमण किया है । हमें पूरी शक्ति और साहस से सामना करना है । हमने कई बार विश्व को भीषण युद्ध से बचाया है । हम जानते हैं विज्ञान के इस युग में युद्ध कितना भयानक हो गया है । हमने पूरी कोशिश की , परन्तु हम सफल नहीं हुए । एक शक्तिशाली , बेशर्म दुश्मन जो निरपराध मानवों के लहू से अपने हाथ रंगना चाहता है उसने हमारे देश में भीषण आक्रमण किया है । हम चीन के समक्ष घुटने नहीं टेकेंगे । हमारी लड़ाई तब तक जारी रहेगी जब तक चीन को खदेड़ने में सफलता नहीं मिल जाती । लेकिन इस स्वाधीनता को बनाए रखने के लिए देश के प्रत्येक नागरिक को दृढ़ होकर हृदय और मस्तिष्क दोनों से पूरी तैयारी करनी है । युद्ध की इस भीषण परिस्थिति में किसान अपने खेत में, मजदूर अपने कारखाने में और वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं में दिन रात परिश्रम कर दुना उत्पादन बढ़ायेंगे । राष्ट्र की इस संकट की घड़ी में कोई कोम स्वार्थी और असामाजिक तत्त्व मुल्क के खिलाफ गद्दारी नहीं करेगा । अन्त में देशवासियों से मेरी यह अपील है कि वे एकता और संगठन के सूत्र में बंधकर देश का सिर ऊंचा रखें और हमलावर चीन की सैन्यशक्ति और मुंह तोड़ उत्तर दें ।" मीरा के सिसकते हुए हृदय को ढाढ़स बंधाते हुए गंगासिंह ने कहा "क्षत्री क्षत्राणी होकर युद्ध से डरती है । देश के ऊपर संकट पड़ा है देश की रक्षा के लिए प्राण बलिदान करना पड़े तो यह वीरतापूर्ण कार्य होगा । आज यदि देश हमीं साम्राज्य-

वादी चीन के शिकंजे में फंसकर अपनी स्वाधीनता जो बैठा तो हमारा जीवन नरक के कीटाणुओं की भांति बन जायेगा । जो देश पराधीन होता है उसकी सभ्यता, उन्नति और आवाज सभी कुछ विनष्ट हो जाता है । `

गेदासिंह ने कहा ,` मुझे देश की स्वतन्त्रता के लिए अपना सर्वस्व निछावर कर दूंगा । मेरी शिराओं में जब तक खून की एक बूंद भी शेष रहेगी मैं तब तक शत्रु के पांव देश की पावन धरती पर नहीं पड़ने दूंगा ।

`भाइयों शत्रु चाहे जितना भी प्रबल बर्बर और पैशाचिक हो मैं पूर्ण विश्वास के साथ कह सकता हूं कि अन्त में विजय हमारी ही होगी । तीन दिन के निरन्तर युद्ध के बाद भारतीय सैनिक शत्रुओं को सीमा के पार खदेड़ने में सफल हुए थे । हमारे सैनिकों के अदम्य साहस और रण-कौशल के आगे शत्रु अपने अनगिनत जवान खोकर पीछे हट गया था । आक्रमण-कारी चीन की अग्नि उगलती तोपों, मशीनगनों और रायफलों के मुंह हमारे केवल पचास सैनिकों ने बन्द कर दिये थे । देश की सीमा रक्षा के लिए आज राष्ट्र का बच्चा-बच्चा हाथों में प्राण लिए इन ऊंचे दुर्गम पहाड़ों पर सिंह सा दहाड़ता दौड़ पड़ा है । अब कभी भी दुश्मन तुम्हारी ओर आंख उठाकर भी नहीं देखेगा । देश का क्रोध तूफान बन गरज उठा है ।`

२१ अक्टूबर १९६२ की रात्रि को चीनियों ने लद्दाख की चांबाकांगला भील की एक चौकी पर भीषण आक्रमण किया । इन्जीनियर कोर के लान्स नायक राघवन ने दुश्मन की निरन्तर भीषण गोलाबारी, बर्फानी हवा, अंधेरी रात की चिन्ता किए बिना सैनिकों को मरते-मरते बचा लिया ।

महेन्द्रकुमार शुक्ल ने इस उपन्यास में गार्हस्थ्य तथा ग्रामीण-जीवन की अत्यन्त स्वाभाविक झलक प्रस्तुत की है । देश प्रेम की पावन भावना से ओत-प्रोत भारतीय वीर सैनिकों ने चीनी आक्रान्ताओं की, मातृभूमि की

अखण्डता की रक्षा करते हुए, वीर सैनिकों के बलिदानों की कहानी प्रस्तुत की है। किन्तु चीनी आक्रमण के कारण और अन्त में चीन की विजय के कारण भारतीय राजनीतिक क्षेत्र में हलचल मच गई और कांग्रेस की राजनीतिक स्थिति डांवाडोल हो गई तथा अन्त में नेहरू का, मानसिक अवस्था लाने के कारण देहान्त भी हो गया।

निर्मल वर्मा कृत `वे दिन` (१९६४) में अकेलेपन की अनुभूति है। रायना, उसका पति, उसका पुत्र, फ्रांज, मारिया, टी-टी आदि सभी अकेले हैं। महायुद्ध के फलस्वरूप उत्पन्न भयंकरता और अजातीयता के स्वर उनमें मुखरित हुए हैं। श्याम सुन्दरदास का `भारत भूमि जिन्दाबाद` (१९६५) उपन्यास में भी १९६२ के चीनी आक्रमण का वर्णन मिलता है। इस देश में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद देश की राजनीति में कितना उलट-फेर तथा भ्रष्टाचार हुआ गया है इन सबका वर्णन इस उपन्यास में किया गया है है। उपन्यास में एक स्थान पर कहा गया है कि पहले जब नेता लोग, भ्रष्टाचार के केस समाज के सामने लाए तो अफसरों ने कहना प्रारम्भ कर दिया कि नेता लोग हमारे काम में विघ्न डालते हैं। शासन इस प्रकार नहीं चल सकता। अब नेताओं को भी खिला-पिलाकर इन अफसरों ने अपने साथ मिला लिया और अब दोनों मिलकर अपना पेट भरते हैं।` यह है स्वतन्त्र भारत की राजनीति। योजनाएं तो बड़ी-बड़ी बनी हैं पर हमारे आचरण इतने गिर गए हैं कि जिसे अवसर मिलता है वह धन बटोरे बिना नहीं रहता। आजकल `हम लोगों का राष्ट्रीय चरित्र पतित हो गया है, यही हमारे पतन का कारण है। लोगों ने यहाँ तक कहा कि नेहरू साम्राज्यवादी है। वह अपनी नीति से भारत निवासियों को धोखा देता है। वह अमरीका और ब्रिटेन की कठपुतली है। इस प्रकार हम देखते हैं कि देशसेवा भी मानों एक धंधा बन कर रह गया है। इसी कारण देश

की दुर्दशा हो रही है। सच्चे त्यागी लोग आगे बढ़ ही नहीं पाते। यदि कोई बढ़ने का प्रयत्न करता भी है तो यह स्वार्थी लोग जो इसे धंधा समझ-कर जीविका निर्वाह करते हैं, कुचल देते हैं। स्वतन्त्र देश की राजनीति पर यह अत्यन्त कटु टिप्पणी है। मनहर चौहान ने 'सीमाएँ' (१९६६) उपन्यास में बदलती हुई राजनीति का वर्णन किया है। आजकल हमारे नेता केवल भाषण देते हैं उस भाषण का कोई लाभ नहीं होता। हमारे नेता देश के सम्मान का ख्याल उतना नहीं करते जितना कि करना चाहिए। यह ठीक है कि बड़े-से-बड़ा राष्ट्र गलतियाँ कर सकता है। चतुर से चतुर राष्ट्र भी कई मसलों पर ध्यान नहीं दे पाता। इसका अर्थ यह नहीं कि हमारे नेता राष्ट्र के सम्मान के प्रति लापरवाह हैं। "इतना बड़ा देश होने के बाव-जूद भारत एक सफल लोकतन्त्र है। भारत के जैसे जितनी तेजी से तरक्की करने वाले देश बहुत कम होंगे। पाकिस्तान और चीन हमारे लोकतन्त्र को फूटी आँखों नहीं देख सकते, किसी न किसी बहाने हमारी सीमाओं में घुसपैठ करते ही रहेंगे। भारत में प्रजातन्त्र भी है, तानाशाही नहीं। लेकिन जब किसी का विचार-स्वातंत्र्य छीना जाता है तो प्रजातंत्र बेमानी है। कांग्रेस ने ऐसी ही नीति ग्रहण कर देश की राजनीति में कलंक लगाया है। किसी को अपना मत ज़ाहिर करने से नहीं रोक सकते, लेकिन जनसंघ ने कच्छ समझौते के खिलाफ आवाज़ उठाई तो झट से उसके नेताओं को गिर-फ्तार कर लिया गया। यह कहाँ का प्रजातन्त्र है? "प्रजातन्त्र के मायने यह भी नहीं है कि जो जैसा जी में आए, वैसा करता रहे। इस तरह तो भयानक अराजकता फैल जायगी। प्रजातन्त्र के भी कुछ नियम होते हैं जिनमें सबको बंधना पड़ता है। बिना नियम के कोई शासन नहीं चल सकता।" शिवप्रसाद सिंह कृत 'अलग-अलग वैतरणी' (१९६७) में करैता गांव की कथा के माध्यम से झूठे मुखौटों को चीरने का प्रयास किया गया है और इसी सन्दर्भ में राजनीतिक विषमता के कुछ संकेत मिल जाते हैं।

सुरेश सिन्हा हिन्दी के एक उदीयमान उपन्यासकार थे। अपने अल्प जीवन-काल में उन्होंने दो प्रसिद्ध उपन्यास लिखे `सुबह अँधेरे पथ पर` (१९६७) और `पत्थरों का शहर` (१९७१) स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद लिखे गये इनके दो उपन्यासों ने अत्यन्त ख्याति प्राप्त की। वर्तमान जीवनधारा से सम्बद्ध महत्त्वपूर्ण उपन्यासों की परम्परा में `सुबह अँधेरे पथ पर` एक श्रेष्ठ उपन्यास है। स्वतन्त्रता का लक्ष्य हमारे राजनीतिक नेताओं के लिये एक बड़ा भारी स्वप्न था। निम्न मध्यवर्ग पूर्व-स्वतन्त्रता काल में जिस सीमा तक शोषण का शिकार था उससे कहीं अधिक शोषण का शिकार स्वतंत्रता के बाद बन गया। निम्नवर्ग और मध्यवर्ग स्वतंत्रता कालीन विडम्बना के सबसे अधिक शिकार हैं। लेखक ने अपने उपन्यास में इसी परिवर्तन का अंकन किया है। लेखक ने राजनीतिक विरोधों का वर्णन किया है। यह उपन्यास स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद के भारतीय जीवन की पुरानी व नई पीढ़ियों का मार्ग-दर्पण है। लेखक ने विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओं, राजनीतिक नारों तथा भाई-भतीजावाद वाली भारतीय डिमोक्रेसी का एक विराट एलबम प्रस्तुत किया है जिससे स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भारत अपनी विशेषताओं एवं कुरूपताओं के साथ हमारे सामने उपस्थित होता है। यह राजनीतिक संदर्भ उपन्यास के विभिन्न स्तरों पर उभरे हैं। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद के काल में इतने आन्दोलन चले अथवा नेताओं द्वारा बड़े-बड़े वायदे किए गए, किन्तु दुर्भाग्यवश उनकी पृष्ठभूमि में लफ्फाजी के सिवाय कुछ नहीं था। इसी प्रकार उनके `पत्थरों का शहर` उपन्यास में देश के भविष्य के बारे में चिन्ता व्यक्त की गई है। उसमें व्यक्ति, परिवार और समाज, तीनों स्तरों पर दिल्ली जैसे महानगर के व्यस्त जीवन और उलझी हुई राजनीति का वर्णन किया गया है। उन्होंने रवि जैसे उठते हुए युवक के माध्यम से यह बताया है कि आज की राजनीति में कोई सिद्धान्तवादिता नहीं रह गई है। उसमें हड़ताल, मारपीट, मापा-धापी, सरकारी दिखाई पड़ती है जिसके फलस्वरूप

देश का जीवन अस्तव्यस्त हो गया है, सामान्य जन का जीवन विक्षिप्त हो गया है, पुरानी पीढ़ी नई पीढ़ी को धिक्कार रही है और नई पीढ़ी पुरानी को । जीवन में विशृंखलता और चारों तरफ अवरुद्ध गति, अनास्था दृष्टिगोचर होती है । सुरेश सिन्हा ने इस उपन्यास में आज देश के राजनीतिक, पारिवारिक, सामाजिक परिवेश के विविध स्तरों को सूक्ष्मता से उभारकर यह बताया है कि आज का दुर्भाग्य देश की अन्तिम नियति नहीं है उसकी गति, दिशाएं आगे खुलेंगी ।

सुरेश सिन्हा के इन दोनों उपन्यासों में कुल मिलाकर हिन्दू-मुस्लिम दंगों, भारत-पाक विभाजन, १९४७ का स्वतन्त्रता दिवस, भ्रष्टाचार जमींदारों द्वारा गरीब जनता का शोषण, ब्रिटिश साम्राज्यवाद के अत्याचारों आदि का वर्णन हुआ है । जवाहरलाल नेहरू ने तो कहा था कि हमारे देश में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के समाप्त होते ही प्रकाश की नई रश्मियां दैदीप्यमान होंगी, हम सबके दिन वापस होंगे । स्वतन्त्रता मिलते ही देश में समाजवाद स्थापित हो जायगा, गांधी जी के रामराज्य का सपना पूरा होगा । ब्रिटिश साम्राज्य के हाथों कठपुतली बने जो पूंजीपति थे और जो शोषण एवं अत्याचार में ही विश्वास रखते थे और उसी की भाषा समझते बूझते थे उन्हीं लोगों से ब्रिटिश सरकार को काफी फायदा होता था । गरीब जनता का कहना था कि जब तक स्वतन्त्रता-प्राप्त नहीं हो जाती, देश में अपनी राष्ट्रीय सरकार नहीं बनती, समाजवादी समाज की रचना नहीं हो सकी । शोषण का यह कुचक्र त्वरित और अबाध गति से चलता जायगा । विदेशी साम्राज्यवाद कभी भी पूंजीवादी सत्ता को नष्ट नहीं करेगा । हिन्दुस्तान और पाकिस्तान का बंटवारा दुर्भाग्यपूर्ण हुआ । साम्प्रदायिक भावना को बढ़ावा मिला । हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के शत्रु हो गए । हमारे देश में अभी तक विदेशी सरकार थी जो भारत का हित नहीं देखती थी । उसकी नीति शोषण की थी । अब देश की पूंजी बाहर नहीं जायगी । देश का आर्थिक संगठन मजबूत होगा ।

किन्तु पूंजीपतियों के संकेत पर चलने वाली यह सरकार इस व्यवस्था को बदलेगी ? ये सभी कांग्रेसी नेता आज अपनी जेबें भरने में लगे हैं । कहाँ तो अस्सी प्रतिशत जनता रोज दिनरात अपना खून पसीना एक करके सात आने रोज कमाती है और कहाँ साल भर में तैंतीस लाख रुपया केवल केन्द्रीय मन्त्रियों के बंगलों को ठण्डा रखने के लिये खर्च किया जाता है । यही समाजवाद है ? समाजवाद एक फैशन नहीं है, जो नारे से आता है । वह एक प्रगतिशील सामाजिक स्थिति है, जो क्रान्ति से आती है.........
खूनी क्रान्ति नहीं क्रान्तिकारी परिवर्तन से .... । हमारी स्वाधीनता कोई क्रान्ति नहीं थी, केवल राजनीतिक व्यवस्था में परिवर्तन मात्र था, हम दास तो अब भी हैं । पहले अंग्रेजों के थे अब पूंजीपतियों और स्वार्थी नेताओं के । आर्थिक क्षेत्र में, सामाजिक क्षेत्र में, संस्कृति के क्षेत्र में, अभी क्रान्ति शेष है । जो चिनगारी सुलग रही है, वह एक दिन भयंकर अग्नि-शिखा बन जायगी और यहाँ भी रूस जैसी क्रान्ति होगी । अन्याय और शोषण चाहे कितने ही रूप बदलें, चाहे वह स्पष्ट रूप से सामने आयें या नारेबाजी और झूठे आश्वासनों के नीचे दबकर आए, वे हमेशा कायम नहीं रहेंगे । आज के समाज में राजनीति में भी भाई-भतीजावाद व्याप्त हो गया है । व्यक्ति तो मात्र तीन ही हैं मन्त्री, एम०पी० या एम०एल०ए० और आफिसर, जिनके पास अधिकार है, जो अधिकार देते हैं --यह वर्तमान युग अधिकारों का है । हमारी राष्ट्रीय सरकार इन्हीं अधिकार प्राप्त लोगों से बनती है और जब यह गद्दी में पहुँच जाते हैं तो सारी मान्यताएं, सारे आदर्श और जनता की सेवा के जो नारे लगाए जाते हैं वे चुनाव के बाद सब समाप्त हो जाते हैं । आधुनिक युग का यह सर्वाधिक नया और मनोरंजन करने वाला फैशन है । यह भाई लोग भतीजावाद वाली इण्डियन डेमोक्रेसी .... ये लोग देश में प्रगतिशील समाजवाद की स्थापना में सहायता देने के लिए कांग्रेस में घुसकर पार्लियामेंटरी बन जाते हैं । कांग्रेस तो

है ही ऐसी बड़ी नदी, जिसमें देश के सारे उचक्कों, काला रोजगार करने वालों, इन्कमटैक्स बचाने वालों, विदेशी मुद्रा छिपाने वाले लुटेरों और नकाबपोशों के लिये मान-मर्यादा की जाद है । उन्हीं के माध्यम से, जवाहरलाल जी अपने सिद्धान्तों, अपने समाजवाद के पूरा होने की आशा करते हैं । हमें लेक्चर पिलाया जाता है , हमें एक बड़ी लड़ाई के लिए तैयार होना है ।" इस उपन्यास का प्रमुख पात्र राजू है । वह देश की स्वाधीनता के समय बहुत से सपने देखता है । वह सोचता है जब हमारा देश आजाद हो जायगा तो देश में समाजवाद आ जायगा परन्तु देश में स्वतन्त्रता के मिलने के बाद केवल समाजवाद का स्वप्न ही रह जाता है । स्वार्थी नेताओं ने देश में नारे बुलन्द किए, परन्तु जनता की कोई खुशियां नहीं लौटा सके । इस उपन्यास में समाज के मध्यवर्गीय परिवार का भी चित्रण किया गया है । सुरेश सिन्हा ने `सुबह के अंधेरे पथ में' राजनीतिक जीवन के बदलते हुए रूपों का तथा समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार, नैतिकता का पतन तथा आधुनिकता व्यक्त किया है ।

इलाचन्द्र जोशी कृत `कवुक' (१९५८) उपन्यास में अनेक राजनीतिक आन्दोलनों का वर्णन हुआ है । इस उपन्यास में लेखक ने भ्रष्टाचार, राष्ट्रीय आन्दोलन, साम्प्रदायिक आन्दोलन , अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं का वर्णन कर स्वतंत्रता के बाद का राजनीतिक भटकाव व्यक्त किया है । स्वतन्त्र भारत की उपलब्धि जितनी तीव्र गति से आशानुकूल होनी चाहिए थी वह नहीं हुई और सारी योजनाएं केवल कागजी बनकर रह गई हैं । जो धन देश में लगाया जा रहा है उसका प्रतिदान देश को नहीं मिल पा रहा है । इसका भीतरी कारण है । देश में चारित्रिक एवं नैतिक दृढ़ता का अभाव सबसे बड़ी बाधा है । जब तक मामूली से मामूली नागरिक और सरकारी कर्मचारी का चारित्रिक एवं नैतिक उत्थान नहीं होगा, तब तक देश की दशा आशानुकूल सुधरने की आशा नहीं है । देश में ऐसे सच्चे नेता नहीं

रह गये जो देश को एकता के सूत्र में बांध सकें । यह सब राजनीति में भ्रष्टा-
चार के कारण है । आर्थिक विषमता और बेकारी, बेरोजगारी, खाद्यसंकट
के पीछे स्वार्थपूर्ण राजनीति है । समाजवाद और गरीबी हटाओ कोरे नारे
बने हुए हैं । इस उपन्यास में उपन्यासकार ने यह बताया है कि स्वतंत्र-
भारत में ऊपर से नीचे तक राजनीतिक और तज्जनित भ्रष्टाचार है ।
रामदरश मिश्र कृत `पानी के प्राचीर` (१९६१) में, किन्तु `जल टूटता
हुआ` (१९६९) में विशेष रूप से, अनेक राजनीतिक गतिविधियों का वर्णन
हुआ है । इस उपन्यास में सन् १९४२ का भारत छोड़ो आन्दोलन, गांवों में
पंचायतों की स्थापना, सन् १९४७ का स्वतन्त्रता दिवस, लोकसभा का
चुनाव, विधानसभा का चुनाव आदि का वर्णन हुआ है । इस उपन्यास में
भारतीय गांव की राजनीति का वर्णन भी है । लेखक गांव के आर्थिक
विकास तथा न्याय के लिए एक स्वप्न देखता है । इस उपन्यास में आजादी
के बाद के भ्रष्टाचार की कहानी है । जिस समय देश स्वतन्त्र हुआ था उस समय
देश में निर्धनता, अज्ञानता और नाना प्रकार के रोगों का प्रचार था । देश
में आज़ादी मिलने के बाद देश के कुछ लोगों को ही लाभ पहुंचा है । लेखक
ने दिखाया है कि नेता लोग स्वार्थी हो गए हैं, वे पदलोलुपता के शिकार
हो गए हैं । गांधी जी का स्वप्न पूरा नहीं हुआ । मजदूरों की विषम
आर्थिक स्थिति है, उनके बच्चों की शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं — यद्यपि
राजनीतिक नेता वायदे बड़े-बड़े करते हैं । उनकी कथनी और करनी में
अन्तर है । हरिजनों की कोई सुनवाई नहीं । एक हत्यारे ने गांधी जी की
हत्या ही कर दी थी । मंत्रिमंडल क्या है, गुटों और स्वार्थियों के जमघट
हैं । उपन्यास का प्रदीप सिंह समाजवाद लाने का `संकल्प` तो करता है,
किन्तु इकट्ठा करता है अपने लिए नित्य नई सुविधाएं । यहां तक कि राज-
नीति की छाया पड़ने के कारण गांवों में मूल्य परिवर्तन हुआ है । वहां भी
स्वार्थ-लिप्सा और वैमनस्य है । राजनीति के कारण आधुनिक संकटबोध पर
इन्होंने प्रकाश डाला है । यादवेन्द्र शर्मा (चन्द्र) के `एक और मुख्यमंत्री`

(१९६९) में भ्रष्टाचार, स्वार्थपरता, घूसखोरी, भाई-भतीजावाद आदि का वर्णन हुआ है । देश की राजनीति बड़ी उलझी हुई है । सामन्त और राजा लोग रूढ़िग्रस्त जनता के अन्धविश्वासों को उभारकर कांग्रेस जैसी प्रगतिवादी संस्था को खोखला करने में संलग्न हैं । साथ ही मंत्रीलोग केवल निजी सुख के लिए राष्ट्र का गड्ढे से बड़ा अहित कर रहे हैं । योजनाओं का खोखलापन, ठेकों में रिश्वत का दौर और नौकरियों में गलत मानदंड, यह सब राजनीति का कलंक नहीं तो क्या है । आज की राजनीति में नेता झूठा, निर्मम, व्यक्तिवादी, अभिनय प्रवीण और स्वार्थी बन गया है । डा० सुधाकर कपूर ने `आकाश के आंसू` (१९६७) में दिखाया है कि आज जनता कांग्रेस से मन ही मन कितनी घृणा करने लगी है । कांग्रेस में अब क्या कुछ नहीं होता । कांग्रेस का त्याग, तपस्या एवं सेवा-भाव समाप्त हो चुका है । जो जिस स्थान पर बैठा है अपना ही घर भर रहा है । अपने ही स्वार्थ की पूर्ति कर रहा है । केवल कांग्रेस ही नहीं सभी पार्टियों की यही दशा हो गई है । आज देश परिवर्तन चाहता है । भले ही देश में कांग्रेस के अतिरिक्त कोई दूसरी सुदृढ़ पार्टी भी नहीं है, दूसरी पार्टी में नेहरू जैसा कोई नेता भी नहीं है । किन्तु यह भी स्पष्ट हो चुका है कि कांग्रेस आधे से कम वोट पाकर भी देश पर शासन कर रही है । अगर सभी दल एकजुट होकर कांग्रेस से टक्कर लें तो सरकार कुछ ही दिनों में घुटने टेक देगी । लेकिन यहाँ मेल करे कौन ? यहाँ तो सभी सत्ता चाहते हैं । धन और पद के लिए अपने अस्तित्व को भूल चुके हैं । यदि हम भारत को एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में देखना चाहते हैं तो भारत के प्रत्येक व्यक्ति को, वह हिन्दू हो या मुसलमान, राजनीतिक भ्रष्टाचार से दूर करने के लिए कटिबद्ध होना होगा । जो सरकार देश की सुरक्षा का प्रबन्ध न कर सके, जो सभी के लिए शिक्षा और भोजन की व्यवस्था न कर सके, जो सरकार भारतीय संस्कृति की रक्षा न कर सके, उसे भारत पर शासनकरने का कोई अधिकार नहीं । उपन्यास के लिए गये एक उद्धरण से यह स्पष्ट हो जायगा —

`तुम्हें शायद मालूम नहीं मैं कांग्रेस पार्टी में एक सक्रिय सदस्य था । मैंने देखा उस पार्टी में ढोल में पोल है, उसका कोई सिद्धान्त नहीं, उसके सदस्यों का कोई कैरेक्टर नहीं है, ऐरा गैरा नत्थू खैरा सभी एम०पी० और एम०एल० ए० बने बैठे हैं, जिनको अंगूठा तक लगाने की भी तमीज नहीं वे मिनिस्टर बने हुए हैं । यह अनपढ़ अंगूठा टेक देश का क्या कल्याण करेंगे ।` कांग्रेस राजनीति का एक स्थान पर इस प्रकार उल्लेख हुआ है --वास्तव में कांग्रेस का कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं रहा । पहले इस पार्टी के कितने ऊंचे सिद्धान्त थे । कितनी महान् आत्माओं ने इस पार्टी की जड़ों को अपने रक्त से सींचा था और आज उस पार्टी की यह दशा । इसी कारण महात्मा गाँधी ने कहा था कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति हो जाने के पश्चात् कांग्रेस पार्टी का कोई उपयोग नहीं रहा । इसे विघटित करके एक सर्वदलीय पार्टी का निर्माण किया जाय और उसे ही सत्ता सौंपी जाय । किन्तु स्वार्थी नेताओं ने उनकी बात नहीं मानी और उसी का परिणाम है कि कांग्रेस ऐसी पवित्र पार्टी भी आज बदनाम हो चुकी है । एक अन्य स्थान पर लेखक ने फिर एक पात्र से कहलाया है ` इन देश के कर्णधारों को तो बस चुनाव जीतकर पद पाना है । हाय रे देश के स्वार्थी राजनीतिज्ञ । यह अवसरवादी कांग्रेसी देश का क्या भला कर सकेंगे । जब पंडित नेहरू ऐसा कार्य-निपुण, सच्चा और ईमानदार नेता इन धूर्तों को न पहचान सका तो फिर कौन सुधारेगा इन्हें ? अभी राजनीति में गन्दगी बहुत है, उसे मिटाने के लिए समाज में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है । राजनीति और धर्म वे वस्तुएं हैं जिनमें प्रायः कम ही सामंजस्य होता है । क्या धर्म और राजनीति का यह गठ-बन्धन देश के लिए कल्याणकर होगा ? .... सम्भवतः नहीं । यदि ऐसा हुआ तो देश का अधःपतन शीघ्र ही जायगा । भारत का विभाजन धर्म और राजनीति के गठबन्धन के कारण ही हुआ । भारत का भविष्य इन झूठे मक्कार और स्वार्थी राजनीतिज्ञों के हाथ में सर्वथा असुरक्षित है ।...

सभी राजनीतिक संस्थाएँ अपने कुकर्मों के परिणाम स्वरूप ही अन्त में मिट जाती हैं । आज राजनीति को एक पेशा, एक खिलवाड़ समझ लिया गया है, यही देश के साथ सबसे बड़ा विश्वासघात है..... और यह देश के कर्णधार चुनाव में विजयी होने के लिए उचित और अनुचित सभी का उपयोग करके यह नारा बुलन्द करते हैं, उसमें विजय प्राप्त करने के लिए उचित और अनुचित सभी कुछ मान्य है ।'....

उपन्यास में यह विचार भी सामने आता है कि 'जो पार्टी मार्क्स-वादी तथा गाँधीवाद सिद्धान्तोंको मानती हो वही देश का कल्याण कर सकती है । किन्तु कठिनाई यह है कि आज हम गाँधीवाद और साम्यवाद को पारस्परिक विरोधी समझने लगे हैं । यदि गाँधीवाद में किंचित संशोधन कर दिया जाय तो साम्यवाद भारत में हो सकता है । आज गाँधी के नाम पर वोट माँगने वाली सरकार काँग्रेस पार्टी की दशा क्या हो रही है । कितने सिद्धान्त मानती है वह गाँधी के । गाँधी जी ने जो मार्ग प्रशस्त किया था क्या उसी पर आज की काँग्रेस चल रही है । आज देश की राजनीति का पतन क्यों हो रहा है उसका भी कारण है । जब संघर्ष और परिश्रम के पश्चात् सब मनुष्यों को अकस्मात् इतनी संपदा इतनी प्रखर सुविधा और साथ ही सत्ता और शक्ति मिल जावे तो वह अपने को क्यों संतुलित रख सकेगा । कुछ वरिष्ठ नेता अपने को सन्तुष्ट रख सके, किन्तु अधिकांश अपने को असन्तुष्ट ।'

श्रीलालशुक्ल हिन्दी के प्रसिद्ध उपन्यासकार हैं । उनका उपन्यास 'राग दरबारी' (१९६८) काफी ख्याति प्राप्त कर चुका है । उसमें भ्रष्टाचार स्वार्थपरता, रिश्वतखोरी, प्रशासन में व्याप्त भ्रष्टाचार, काँग्रेसी नेताओं की चरित्रहीनता, छात्रों के आदर्शों का नैतिक पतन आदि का वर्णन हुआ

है । इसमें आज की भ्रष्ट राजनीति को उभारा गया है । स्वतन्त्रता के बाद नए सामन्तों का उदय हुआ है और नए दरबारी अस्तित्व में आए हैं । ये दरबारी परोपजीवीवृत्ति वाले हैं और अतुला भक्त वैतालों का राग अलाप रहे हैं । न्याय और कानून अभिजात वर्ग की धरोहर बन गए हैं । निम्न-वर्ग को हर स्थान पर मात खानी पड़ती है । अदालत में लंगड़ के विरुद्ध निर्णय होने पर रंगनाथ उसे समझाता हुआ कहता है, 'तुम्हारे कायदे कानून जानने से कुछ नहीं होगा । जानने की बात सिर्फ एक है कि तुम जनता हो, और जनता इतनी आसानी से नहीं जीतती ।'[१]

शिवपालगंज के थाने की सत्ता आतंकवाद के ऊपर ही निर्भर है । आधुनिकता के नामपर न उसमें उंगलियों के निशान देखने वाले शीशे हैं न कैमरे हैं और न वायरलेस वाली गाड़ियाँ हैं । जुआड़ी स्वयं आकर थानेदार जी से चलान करने की प्रार्थना करता है, क्योंकि दुश्मनों ने कहना आरम्भ कर दिया है कि शिवपालगंज में दिन दहाड़े जुआँ होता है ।'[२]

इसीलिए वह दरोगा जी को चलान करने का सुझाव देता है, वैसे भी, समझौता साल में एक बार चालान करने का है । इस साल का चालान होने में देर हो रही है । अभी वक्त हो जाय तो लोगों की शिकायत खत्म हो जायगी ।'[३] जो वास्तविक अपराधी है उनसे बड़ी रकम लेकर उन्हें क्षमा कर दिया जाता है एवं निर्दोष व्यक्तियों को फँसाकर मुकदमा चलाया जाता है । क्योंकि बिना किसी पर कार्यवाही किए जनता में पुलिस का प्रभाव

---

१. श्रीलाल शुक्ल : 'राग दरबारी', पृष्ठ ३२१
२. वही, पृष्ठ० ८८
३. वही, पृष्ठ० ८८

समाप्त हो जाता । भगड़-भांड नाम के अपराधियों से रिश्वत लेकर दरोगा बख्तावर सिंह पहले ही केस समाप्त कर चुके थे । इसका दंड भुगतना पड़ा निर्दोष व्यक्तियों को ।[1]

कालिज गुण्डों और शोहदों के अड्डे बन गए हैं एवं मास्टर पढ़ाना लिखाना छोड़कर सिर्फ पालिटिक्स सिखाते हैं ।[2] नौकरशाही प्रशासन में रिश्वत के बिना कोई कार्य सम्भव नहीं । लंगड़ नामक व्यक्ति मुकदमा करने के लिए अदालत से पुराने फैसले की नकल चाहता है, किन्तु वह भी बिना रिश्वत दिए उसे नहीं मिल पाती । नकलनवीस घर-गृहस्थी वाला व्यक्ति है, अतः अपनी बड़ी गृहस्थी का पालन पोषण करने के लिए उसे रिश्वत लेना आवश्यक है । इसी प्रवृत्ति पर लेखक ने व्यंग्य किया है, "पहले सधा काम होता था ।...... एक रुपिया टिका दो दूसरे दिन नकल तैयार । अब नए-नए स्कूली लड़के दफ्तरों में घुस जाते हैं । लेन-देन का रेट बिगाड़ते हैं । उनकी देखादेखी पुराने आदमी भी मनमानी करते हैं । अब रिश्वत का देना और लेना दोनों बड़े झंझट के काम हो गए हैं ।"[3]

उच्च और निम्न वर्ग के बीच की यह गहराई बढ़ती जा रही है, झूठे ढकोसलों के नाम पर हम उसे झुठला नहीं सकते । शहरी और ग्रामीण आधार पर वर्ग बन रहे हैं । शहरी रिक्शा चालक सिगरेट पीता है इसलिए वह बोलता है, "उधर के देहाती रिक्शा वाले दिन-रात बीड़ी फूंक फूंक कर दांत खराब कर लेते हैं ।"[4] ग्रामीण रिक्शा चालक द्वारा प्रेमपूर्ण व्यवहार

१, वही, पृष्ठ सं० २१-२२
२, वही, पृ० सं० ५०
३, वही, पृष्ठ सं० ५८
४, वही, पृष्ठ सं० ५५

का उत्तर वह उपेक्षापूर्ण शब्दों में देता है, "अबे परे हट । क्या बकता है ।"[१] उसके लिए देहात शब्द ही उपेक्षा का द्योतक है । उसके शब्दों में, "पहलवानी तो अब देहातों में ही चलती है ठाकुर साहब । हमारे उधर अब तो छुरे बाजी का जोर है ।"[२]

शिवपालगंज का इन्टर कालिज राजनीति का अखाड़ा बना हुआ है । वैद्य जी कालेज के मैनेजर हैं । वे वैद्यगिरी भी करते हैं और साथ ही सहकारी समिति के प्रबन्ध निदेशक भी हैं । कालेज की मैनेजरी पर वैद्य जी का शाश्वत अधिकार है । कालिज की प्रबन्ध समिति की वार्षिक मीटिंग में मैनेजर के चुनाव का आडम्बर रचा जाता है । बन्दूक के बल पर यह मीटिंग होती है, केवल वैद्य जी और प्रिन्सिपल साहब के दल के व्यक्तियों के लिये ही इस मीटिंग में जाने के रास्ते खुले हैं, विरोधी पक्ष के लिए प्रवेश निषिद्ध है और उनके लिए प्रवेश द्वारों पर सशस्त्र पहरा है । बलराम जो प्रबन्ध समिति का मेम्बर है, प्रिन्सिपल साहब को आश्वस्त करते हुए कहता है, "असली विलायती चीज़ है । छः गोली वाली । देशी कारतूस तमंचा नहीं कि एक बार फूट के होकर रह जाय । ठांय-ठांय शुरू कर देना तो रामदीन गुट के छः मेम्बर गौरैया की तरह लेट जायेंगे ।"[३] पूरे कालेज की नाकेबन्दी की हुई है कहीं कोई कमी न रह जाय इसीलिए बलराम वहाँ घूमने वाले प्रिन्सिपल गुट के छात्रों में से एक को कहता है," ज़रा बेटा कालेज की परिक्रमा करके देख आओ ,हमारे आदमी ठीक से नाकेबन्दी किए हैं कि नहीं ।" इस सशस्त्र पहरे में वैद्य जी पुनः सर्वसम्मति से चुन लिए जाते हैं । "वैद्य जी स्वतन्त्रताप्राप्ति के

---

१. वही,
२. वही, पृष्ठांक ६६
३. वही, पृष्ठ संख्या १८१
४. वही, पृष्ठ सं० १८१

वाद के नवोदित सामन्त और रंगनाथ के मामा हैं, जो कोआपरेटिव के मैनेजिंग डाइरेक्टर से लेकर छंगामल विद्यालय इन्टरमीडिएट कालेज के मैनेजर तक सभी कुछ हैं । गांव की राजनीति पर उनका नियन्त्रण तब तक कोई हटा नहीं सकता जब तक कि उनके बेटे बद्री पहलवान की भुजाओं में ताकत है, छोटे पहलवान की जंघा सुदृढ़ है और छंगामल विद्यालय इन्टरमीडिएट कालेज के लिकड़मी प्रधानाचार्य की सेवाएं सुलभ हैं ।

ये सब वैद्य जी के दरबारी हैं जिनके कुशल प्रयत्नों से वैद्य जी की सीट सुरक्षित है । कालेज के विरोधी पक्ष के लेक्चरर खन्ना जैसे व्यक्ति कभी न्याय की दुहाई देकर अदालत तक पहुंचते हैं और अन्याय की जांच कराने की बात उठाते हैं, किन्तु यह जांच भी एक आडम्बर है । खन्ना के वकील के शब्दों में, 'श्रीमन्, इन जांचों के दौरान खन्ना और उनके साथियों को दबाने के लिए उन्हें मजबूर करके उनका मुंह बन्द करने के लिए ही यह मुकदमा चलाया गया है । यह मुकदमा भी एक तरह की चालबाजी है ।'[1] प्रिन्सिपल साहब तो शारीरिक बल पर विश्वास करते हैं । उनके मन में तो, 'महाराज हमारी तो यह राय है कि सारे खन्ना के हाथ पांव तुरवाय के कौनो नारामें डारि दीनि जाय, और यह न बने तो सारे का कान पकरि के कालिज से बाहर निकाल दिए ।'[2]

प्रिन्सिपल साहब स्वयं के न्याय पर विश्वास करते हैं । इस प्रकार उनके पास मास्टरों को नौकरी से निकालने के और भी बहुत-से रास्ते हैं । इसी प्रकार वार्षिक परीक्षा के दिनों में खन्ना को परीक्षा भवन से निकालने के लिए विवश किया जाता है क्योंकि यह भी खन्ना को निकालने

---

१. श्रीलाल शुक्ल : 'राग दरबारी' , पृष्ठ २६३
२. वही, पृष्ठ २६३

का ढंग है । इस अस्त्र को वे पहले दूसरे मास्टरों पर भी चला चुके हैं । खन्ना इसी कारण रंगनाथ से कहते हैं, "पारसाल त्रिपाठी जी के साथ भी यही हुआ था । उनसे कह दिया गया था कि बस कल से कालिज मत आना । वे दूसरे दिन गए तो कालिज के फाटक पर बद्री पहलवान के तीन चार चेलों ने घेर लिया । बेचारे त्रिपाठी जी इज्जत बचाकर भाग आए । जब तक वे कहीं शिकायत करें तब तक उन पर इतने दिन गैर हाजिर रहने का चार्ज लगाकर उन्हें मुअत्तल कर दिया गया । बाद में वे निकाल दिए गए ।"[१] यह है कालेज की राजनीति जहाँ केवल सत्तारूढ़ दल की ही विजय है । विरोधी पक्ष का व्यक्ति यदि उपन्यास के विरुद्ध आवाज उठाता है तो सामन्ती प्रयत्नों से उसे दबा दिया जाता है । ये हैं राजनीतिक कुचक्र जो सरकारी तंत्र से लेकर शहरी, ग्रामीण, न्यायिक और शैक्षिक प्रत्येक क्षेत्र में व्याप्त है । सत्ता और शक्ति सम्पन्न सामन्ती मनोवृत्ति वाला व्यक्ति अपनी सत्ता और सत्ता को सुरक्षित रखने के लिए अपने मार्ग से प्रतिद्वन्द्वियों को हटा देना चाहता है । इसके लिए अनेक कुचक्र रचना है । कभी ये कुचक्र चुनावी प्रतिद्वन्द्विता का स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं, तो कभी प्रतिपक्षी के प्रति प्रतिशोध की भावना के रूप में प्रकट होते हैं । कभी ये व्यक्तिगत और दलीय स्वार्थों से जुड़ जाते हैं, कभी विरोधी को परास्त करने की भावना प्रमुख हो जाती है ।

"जिस देश में मंत्री और नेता ही कानून के भक्षक हैं वहाँ देश की रक्षा कौन कर सकता है । यह नेताओं के रूप में छिपे हुए तस्कर हैं जो नवसामन्तवाद की व्यवस्था को जन्म दे रहे हैं । शोषणकर्ता कुछ वर्ग समाप्त हो गए इसमें सन्देह नहीं है । पर उनके स्थान पर जो नए-नए वर्ग बन गए हैं उनसे तबाही का दौर बढ़ा ही है, कम नहीं हुआ । उदाहरण के लिए

---

१. वही, पृ० सं० १००

जमींदारी का खात्मा हुआ पर नेतागीरी का विकास हो गया । पुराने जमींदारों और ताल्लुकेदारों ने अपनी शक्ल बदल ली और शोषण के लिए अपने को तैयार पाया । अत: शोषणकर्ताओं के विभिन्न मुखौटे हैं, जिनको धारण कर वे विभिन्न रूप धरते रहते हैं । राजनीतिक भ्रष्टाचार शिक्षण संस्थाओं में भी परिलक्षित होता है । शिक्षण संस्थाओं की राजनीति कुछ इने गिने अधिकारियों के चंगुल में बन्द है "लकड़ी के बक्से में कालिज के लिए किताबें आई थीं। किताबें प्रिन्सिपल साहब के घर में और बक्स मरम्मत के बाद वैद्य जी के घर में आ गया था । रेडियो भी कालिज का था रंगनाथ के यहाँ आ जाने के बाद, वैद्य जी के घर पर मंगा लिया गया था ।"[1]

कालेज तो वैद्य जी की निजी सम्पत्ति थी जिसके सूत्रधार और संचालक सभी कुछ वे थे और अपने बाद अपनी इस सम्पत्ति को वे अपने बेटों को ही सौंपकर जाने की इच्छा रखते थे । किन्तु रुप्पन ने अपने पिता के पद चिह्नों पर न चलकर वैद्य जी के क्रोध को भड़का दिया । इसीलिए वे व्यक्तित्व की गरिमा से उत्पन्न शाप की वाणी में भविष्यवाणी करके रुप्पन को अपने उत्तराधिकार से वंचित करते हैं, "आशा की थी कि वृद्धावस्था शांति से बीतेगी..... सोचा था इस कालिज का भार तुझे देता जाऊंगा ।.... पर नीच तू विश्वासघाती निकला । जा, अब तुझे कुछ नहीं मिलेगा ।....जा मैं तुझे अपने उत्तराधिकार से वंचित करता हूँ । सब लोग सुन लें । मेरे बाद बद्री ही इस कालेज के मैनेजर होंगे । यही मेरा अन्तिम निर्णय है । रुप्पन को कुछ नहीं मिलेगा ।"[2] कालेज राजनीति में व्याप्त भ्रष्टाचार का एक अन्य स्वरूप भी है, अध्यापकों को जितना वेतन मिलता है उसकी दूनी रकम पर दस्तखत कराया जाना,[3] जिसे "राग दरबारी" में उभारा गया है ।

---

१. श्रीलाल शुक्ल , रागदरबारी" , पृष्ठ० ३११
२. वही, पृष्ठ० ५२०
३. वही, पृष्ठ० ३६३

वास्तव में श्रीलाल शुक्ल कृत `राग दरबारी` (१९६८) स्वातंत्र्योत्तर-कालीन राजनीतिकपरिस्थितियों पर एक समर्थ व्यंग्यात्मक उपन्यास है। वर्तमान विसंगतियों के मूल में पूंजीवादी सभ्यता को मानते हुए उन्होंने मूल्यों के विघटन की ओर संकेत किया है। इसमें उनका मानवतावादी दृष्टिकोण उभरा है। शिवपालगंज की कहानी सारे भारतवर्ष की कहानी बन जाती है। गाँव-सभा, सहकारी संघ, शिक्षा-संस्थाएं सब राजनीति के अड्डे हैं जिनसे जीवन खोखला हो गया है। सब जगह भ्रष्टाचार है, `नाते रिश्तेदारी` है। भ्रष्ट राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत मनुष्य की विवशता उससे क्या नहीं करा सकती। लेखक ने स्वातन्त्र्योत्तर काल के जीवन की अन्य विसंगतियों के अतिरिक्त, छोटे-बड़े राजनीतिक परिवर्तनों का लेखा जोखा प्रस्तुत किया है। राजनीतिक क्षेत्रों में मूल्यों का विघटन, भ्रष्टाचार, घूसखोरी, स्वार्थपरता, भाई-भतीजावाद, गबन सभी कुछ `राग दरबारी` में है। यह स्वतन्त्र भारत की चुनौतियाँ उपस्थित करता है। राजनीतिक जीवन की बेईमानी, अवसरवादिता, कुत्सित प्रवृत्तियाँ, समझौतावादी दृष्टिकोण आदि के कारण बुद्धिजीवियों की भी दुःखद स्थिति हो गई है। देश में आज झूठे मुखौटे हैं, अन्तर्विरोध है और इन सबका दस्तावेज `राग दरबारी` है। राजा महाराजाओं के दरबार नहीं रहे, लेकिन स्वतन्त्र-भारत में `प्रजातांत्रिक दरबार` बने हुए हैं। सामन्ती काल में दरबारों में रागदरबारी गाकर दरबारी लोग राजा का अभिनन्दन करते थे। आज नगरों में ही नहीं, गाँवों के प्रत्येक क्षेत्र में, `प्रजातांत्रिक राजाओं` के दरबार लगे हुए हैं। वहाँ `दरबारी` राग द्वारा उन्हें मान-प्रतिष्ठा, धन दौलत सभी कुछ दिया जाता है। इस उपन्यास में व्यंग्य की करारी चोट है।

शम्भुदयाल चतुर्वेदी का `सफेद गुलाब` (१९७०) उपन्यास में राजनीति मजदूरों और नेताओं के इर्दगिर्द चक्कर काटती है। `उनकी माँग है कि

इन लोगों के वेतनमान बढ़ाकर इसी उद्योग की दूसरी प्रादेशिक शाखाओं के बराबर कर दिए जाएं । मालिक न माने तो हड़ताल और फिर भी न माने, तो न्यायालय का सहारा लेकर मिल पर तालाबन्दी ।` लोकतन्त्र के पर्दे में चलने वाले इसी सामन्तवाद के खण्डहरों पर समाजवादी समाज बनाया जाय । उपन्यास में राजनीति का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि लोग पहले कत्ल करते हैं, फिर खुद ही जाकर थाने में रिपोर्ट लिखा आते हैं । पहले किसी के घर को दियासलाई दिखा देते हैं, फिर खुद ही सहानुभूति व्यक्त करने आ खड़े होते हैं । हम लोग यही सब देखते ,सुनते और करते चले आ रहे हैं । कमलेश्वर का `लौटे हुए मुसाफिर ` (१९७१) उपन्यास में सन् १९४२ का भारत छोड़ो आन्दोलन, आजादहिन्द फौज की स्थापना, भारत-पाक विभाजन आदि का उल्लेख मिलता है । लेखक ने संकेत किया है कि गांधीजी के `करो या मरो ` आन्दोलन के संघर्ष और बलिदान के बाद जब १९४७ में देश स्वतन्त्र हुआ तो देश ने एक ऐसे साम्राज्य के साथ संघर्ष किया जिसमें हजारों व्यक्तियों ने अपने प्राण-न्योछावर किए । स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद देश का विभाजन हुआ उस विभाजन के फलस्वरूप नरसंहार तथा मानवता पर बलात्कार जैसी दुर्घटनाएं हुईं जिससे देश में उदासी छा गई । विभाजन के कारण देश में भीषण नरसंहार और हिंसा चारों तरफ फैल गई । प्रतिशोध की भावना से देश की नई स्वतन्त्रता भी खतरे में पड़ गई । पाकिस्तान से उजड़कर आए हुए लाखों शरणार्थियों को नए मार्ग पर लाना आसान काम नहीं था । विभाजन के कारण प्रशासकीय स्तर में भी अनेक समस्याएं पैदा हो गई । गंगाप्रसाद विमल कृत `मरीचिका ` (१९७३) उपन्यास में मजदूर संगठन, हड़तालों, काले धंधों, बेरोजगारी की समस्या , भ्रष्टाचार आदि का वर्णन हुआ है । इस उपन्यास का प्रमुख पात्र हरिप्रकाश है । देश में गिरती हुई राजनीति और भ्रष्टाचार को देखकर उसका मन घृणा से भर उठता है । जब उन नेताओं के खिलाफ आवाज उठाता है तो भाषण

देते हैं, नारा लाते हैं, उसका अमल नहीं करते। वह कहता है -- "तुम मुझे इसलिए लाए थे कि मैं सशक्त क्रान्ति के लिए विचारधारा का निर्देश देता रहा हूं ताकि कोई भटक न जाय - तुमने मुझे क्या रसोइया समझा है ? तुम जानते नहीं कि मैं किस किस्म का आदमी हूं। मैं उन लोगों में नहीं हूं, जो बातें क्रान्ति की करते हैं लेकिन कायरों की तरह गप्पों में, भोग विलासों में लगे रहते हैं। मैं उन सबको छोड़ आया हूं।" इस उपन्यास के अनुसार ऊपर से नीचे तक भ्रष्टाचार और घूसखोरी फैली हुई है। इस उपन्यास में गंगाप्रसाद विमल ने आधुनिक जीवन की संवेदना को गहरे स्तर पर विश्लेषित किया है। इसमें आधुनिक युग के मानव मन की उलझनों को उधेड़कर प्रस्तुत किया गया है।

भगवतीचरण वर्मा कृत 'सबहिं नचावत राम गोसाईं' (१९७०) में १९४८ से १९५८ तक के भारत की राजनीति है। यह उपन्यास उनके 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' 'भूले बिसरे चित्र' और 'सीधी सच्ची बातें' की परम्परा में रखा जा सकता है। लेखक ने स्वतंत्रता-प्राप्ति तक का चित्र पृष्ठभूमि के रूप में देकर उपन्यास को वहां से उठाया है जहाँ उनका उपन्यास 'सीधी सच्ची बातें' समाप्त होता है। इसीलिए इस उपन्यास में इस बात का चित्रण है कि स्वतन्त्रता से पूर्व राजनीतिक नेताओं के जो आदर्श थे वे किस प्रकार ढह गए हैं, उनमें पद-लोलुपता, धन-लोलुपता, स्वार्थ-सिद्धि, भ्रष्टाचार, काला धन्धा, भाई-भतीजावाद, अनैतिकता, हर तरह से अपना उल्लू सीधा करना आदि बातें आ गई हैं, गांधी जी के 'राम राज्य' का स्वप्न तिरोहित हो गया है और इन बातों के फलस्वरूप देश को बड़ी भारी क्षति पहुंच रही है। उपन्यास के राधेश्याम, जबरसिंह और रामलोचन के माध्यम से उपन्यास का भावना-प्रधान रूप भी सामने आता है और सब कुछ कहने के बाद लेखक यही कहता है --'सबहिं नचावत राम-

गोसाईं ` । वर्मा जी के `प्रश्न और मरीचिका ` (१९७३ ) में भारत की राजनीतिक परिस्थिति १९६२ के चीनी आक्रमण तक चली आती है । नौकरशाही का प्रभुत्व विभिन्न दलों की परस्पर कशमकश, पूंजीपतियों की अनैतिक और विलासपूर्ण नीति, मूल्य विघटन, विदेशी शक्तियों द्वारा भारतीय राजनीति में कुचक्र आदि इस उपन्यास के प्रमुख राजनीतिक विषय हैं । वास्तव में `प्रश्न और मरीचिका ` उपन्यास में स्वतन्त्रता के बाद की राजनीतिक गतिविधियों का सुन्दर वर्णन हुआ है । लेखक का ध्यान राज-नीतिक भ्रष्टाचार, जमींदारी प्रथा का उन्मूलन , असेम्बली का चुनाव, देश का बंटवारा , लोकसभा का चुनाव आदि की ओर भी गया है । स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद समाज में सब जगह भ्रष्टाचार और घूसखोरी के द्वारा ही काम होने लगा है । समाज का वातावरण दूषित हो गया । पूंजीपति लोग अमीर होते गए हैं, और गरीब और मध्यमवर्गीय परिवार समाज की विषम आर्थिक परिस्थितियों से गुजरने लगे हैं । उनका व्यंग्यपूर्ण नारा भी था -- `लूटो मेरे भाई ` (LMB) ।

शंकर के `सीमाबद्ध ` (१९७३) उपन्यास में स्वतन्त्रता के बाद का राजनीतिक भ्रष्टाचार, स्वार्थपरता आदि का वर्णन हुआ है । इसमें लेखक का दृष्टिकोण यह है कि `देश के करोड़ों लोगों की गरीबी दिल्ली के मुट्ठी-भर नहीं मिटा सकते । देश को तो सिर्फ यूनियन जैक की जगह तिरंगा झण्डा फहराने की आजादी मिली है । इसके बाद के काम तो अभी बाकी हैं । कुम्भकरण की नींद कौन जाने कब टूटेगी । लेकिन वह युगान्तर का दिन होगा । आसमुद्र हिमाचल के करोड़ों लोग पूछने लग जायेंगे कि हमारे पास अन्न क्यों नहीं है ? इसके बाद शायद शुरू होगा प्रलय का नाच । इसलिए उनकी नींद टूटने के पहले ही हमें बहुत-सा काम कर डालना चाहिए । सतीश जमाली कृत `प्रतिबद्ध `(१९७४) उपन्यास में मजदूर आन्दोलन का वर्णन

किया गया है । इस उपन्यास में यह बताया गया है कि किस प्रकार मजदूर और मिल मालिकों में आपसी भेदभाव रहता है और राजनीतिक दाँवपेंच खेले जाते हैं । पूंजीपतियों द्वारा मजदूरों पर कातिलाने हमले कराना, उन पर जुल्म ढाना, राजनीतिक नेताओं की उसमें साँठगाँठ रखना, नेताओं का खरीदा जाना, राजनीतिक हत्याएं आदि आज की राजनीति अर्थात् पूंजीपतियों और नेताओं की मिली-जुली भगत का चित्रण इस उपन्यास में हुआ है । श्रीराम शर्मा कृत 'आंधी का उतार' (१९७५) उपन्यास में लेखक का संकेत है कि समाज के इन्सान को जहाँ बुद्धिवादी बनाया है वहाँ विचारों से भ्रष्ट भी कर दिया है । स्वतन्त्र-भारत में रुपया खुदा बन गया है । रुपए-पैसे के लेन देन के बिना अर्थात् घूस दिए बिना कोई काम नहीं होता, क्योंकि घूस लेने की प्रवृत्ति ऊपर के नेताओं में मिलती है । इसीलिए इस प्रवृत्ति का निम्न स्तर तक आना स्वाभाविक है ।

आज का त्रस्त मानव समाज राजनीति के गन्दे प्रवाह में बहा जा रहा है और प्रतिशोध और प्रतिकार इस समूह को विषैले नाग की तरह डस रहा है । अमानवीय तत्व उस समुदाय में घर कर गए हैं । ऊँचाई पर बैठा समाज का व्यक्ति जो कुछ करता है, उसका अनुगमन करना ही अशिक्षित और अन्धकार में खड़े इन्सान को भाता है । वह उसी रास्ते पर चलता है । स्वतन्त्र भारत का आदमी हल्का हो गया है । हम इस विस्तृत देश में जो अनेक विभाजन देखते हैं वे राजनीतिज्ञों की स्वार्थपरता के कारण सुरक्षित हैं । राजनीति ने ऐसी हालत कर दी है कि आज देश में न शिक्षा है, न कला है । लाखों नगर अपने मानस में सुख-दुःख, पीड़ा और उत्साह, घृणा और अनुभूति, राग और वैराग्य, एक ही साथ लिए हुए हैं । यहाँ आर्थिक हीनता है । कहीं पैसा नहीं, रोजगार नहीं । इसीलिए यहाँ का आदमी अन्धकार में पड़ा है । लगता है नगरवासियों का अभिशाप गाँव को सता रहा है । कैसी अजीब बात है कि नगर के लोग जो ऊँची-ऊँची बातें बनाते हैं, आजादी और साम्यवाद की दुहाई देते हैं, उन किसान और मजदूरों के खून

पसीने से अर्जित अन्न प्राप्त कर नगर के लोग जीवन पाते हैं, परन्तु बदले में इन्हें क्या देते हैं...... वे कहते हैं, देहाती, गंवार और मूर्ख । भला यह कैसी परम्परा है । ये जीवनदाता और अन्नदाता ही मूर्ख हैं, गंवार हैं । इसलिए न कि उनके पास किताबों के पढ़े शब्द नहीं हैं, उनके पास शिक्षा नहीं है किन्तु देश की राजनीति के कर्णधारों को इसकी चिन्ता नहीं है । आज समाज में त्रस्त मानव और अधिक अँधेरे में फेंका जा रहा है..... सताया जाता है । वास्तव में आज राजनीति धनोपार्जन का साधन बन गई है, न कि जनसेवा का । नगरमहापालिकाओं, विधान-सभाओं और लोक सभा के चुनाव इसी दृष्टिकोण से लड़े जाते हैं । देश ने सन् ४७ में जब करवट बदली तो उसका आज तक का जन-जीवन, कुछ ऊपरी सुख-सुविधाओं को छोड़कर, खोखला होता जा रहा है । राजनीति ने उसे अँधेरे में पटक रखा है । नेता लोग ही अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए वर्गभेद-जातिभेद की दीवारें खड़ी कर रहे हैं । अंग्रेजों की जिस वर्ग विभाजन और जाति-भेद नीति की हमारे राजनीतिक नेता निंदा करते थे, वही नीति स्वतन्त्र-भारत में बराबर पनप रही है । शमशेर सिंह नरूला का `अँधेरे में भटकती किरण` (१९७६) उपन्यास में भारत-चीन आक्रमण का दृश्य उपस्थित किया गया है । राजनीतिक दृष्टि से इसमें कम्युनिस्टों की देश-विरोधी गतिविधियों का उल्लेख हुआ है ।

कामतानाथ का `एक और हिन्दुस्तान` (१९७७) उपन्यास में स्वतन्त्रता के बाद का वर्णन हुआ है । इस उपन्यास में देश के समाज में बदलती हुई परिस्थिति का भी वर्णन मिलता है । लेखक यह बताता है कि इस देश का भाग्य ऐसे नहीं बदलेगा । जब तक यह कांग्रेस सरकार है तब तक कुछ नहीं होगा । कहने को समाजवाद की बात यह भी करते हैं मगर एक-एक मिनिस्टर की चोटी टाटा-बिड़ला के हाथ में है । बीस साल हो गए हुकूमत करते हुए, मगर गरीबी देश में पहले से कहीं ज्यादा है । भुखमरी, बेरोजगारी की सीमा नहीं । मुझे तो आश्चर्य होता है कि कैसे जनता इनको

बर्दाश्त कर रही है । सब एक ही बात करते हैं । फिर अलग-अलग पार्टी क्यों है ? यह सब पार्टियों से मिलकर एक क्यों नहीं हो जातीं ? आज के नेता केवल समाज को बदलने, देश से गरीबी दूर करने और समाजवाद स्थापित करने की बात ही करते हैं । परन्तु परिवर्तन कहीं भी नहीं होता है । लेखक ने गन्ना काश्तकार संघ की गतिविधियों का उल्लेख करते हुए सम्प्रदायवाद, भूख-हड़ताल, जेलभरो आन्दोलन आदि का उल्लेख कर आज की राजनीति पर प्रकाश डाला है । काश्मीरी लाल ज़ाकिर के 'लहू पुकारता' (१९७७) उपन्यास में स्वतन्त्रता के बाद का वर्णन हुआ है । लेखक सोचता है कि मुल्क के अज़ल नेता महात्मा गांधी ने जिन उसूलों की खातिर अपनी सारी ज़िन्दगी कुर्बान कर दी थी वे बड़े बेरहमी से खत्म किए जा रहे हैं । डेमोक्रेसी के नाम पर कुछ ऐसे कदम उठाये जा रहे हैं जो सरासर अनडेमोक्रेटिक हैं । जब तक नई नस्ल के प्रतिनिधि आगे बढ़कर अनडेमोक्रेटिक ताकतों का मुकाबला नहीं करेंगे तब तक मुल्क की खूबसूरत परम्परायें बर्बाद होती जाएंगी । नई नस्ल के प्रतिनिधियों में पढ़े लिखे नौजवान और विद्यार्थी भी शामिल हैं । राजनीतिक पार्टियाँ एक साथ मिलकर अवाम की ताकत खत्म करना चाहती हैं । समाज में जब तक क्रान्ति नहीं आएगी, हालात न बदल सकेंगे । हुकूमत में से जनता का विश्वास उठता जा रहा है । इमरजेंसी लागू करने से कुछ नहीं होता । वह अवाम की आज़ादी और प्रजातंत्र का गला घोंटने के लिए थी । आज हुकूमत करोड़ों इन्सान की तकदीर से खेल रही है । डिक्टेटरशिप से देश में ज़हरीले फल होंगे । जब तक जनता, विशेषत: नवयुवक, अपनी आवाज़ बुलन्द नहीं करेंगे तब तक आए दिन गांधियों की हत्या होती रहेगी । गांधी की समाधि पर फूल चढ़ाने से कुछ नहीं होता । उनके उसूलों को अमल में लाना ज़रूरी है । आज हिन्दुस्तान की सियासत के आकाश पर अचानक ही एक दुम्दार सितारा उभर आया है । उसकी चमक से आँखें चकाचौंध हो रही हैं । उषाबाला के 'कुर्सी का नशा' (१९७८) उपन्यास में स्वतंत्रता के बाद

का भ्रष्टाचार, घूसखोरी, भाई-भतीजावाद, जातिवाद आदि का वर्णन हुआ है। इस उपन्यास का प्रमुख पात्र जानकीदास है। जानकीदास अपनी कुर्सी के लिए राजनीति में सब कुछ करने को तैयार है। राजनीति छलना है। कब क्या हो जाय, कोई नहीं जानता। वक्त पड़ने पर चीनी, डालडा भिजवाना, अल्पसंख्यकों को खुश रखना, हरिजनों की सुरक्षा का झूठा वायदा करना, अपना 'कैरियर' बनाना आज की राजनीति के खेल हैं। पार्टी की तरफ से सर्व दिलाना, पेट्रोल, शराब, दिलाना, तस्करी कर या कराकर प्राफिट करना, प्रतिद्वन्द्वी को ऊपर से खरीदना, परमिट का ब्लैक में बिकना, फोटो खिंचाना, फूलमाला पहनना इसी खेल के विविध पक्ष हैं। सांप और नाग में कोई अन्तर नहीं। आज भी यह नेता जनता की श्रद्धा और आस्था की चोरी करके कुर्सी पर बैठे हैं। सब जगह लूट-खसोट है। नव और बीस साल तक चैन की बंसी बजा सकता है तो तस्कर में क्या बुराई है तस्कर चोर से हजार बार अच्छा है क्योंकि वह धनी चोर है, टुच्चा चोर नहीं। क्या फर्क पड़ता है इस देश में। जैसे सांपनाथ वैसे ही नागनाथ। मध्यम वर्ग भी अपने भ्रष्टाचार का साथी बन गया है और जहां मौका मिलता है हाथ मार देता है, क्योंकि वह जानता है कि शांतिपूर्ण तरीके से सत्याग्रह और जुलूस के दिन लद गए। बढ़ती महंगाई की मार भी निकलती जा रही है। मध्यम वर्ग पढ़ा लिखा वर्ग है। खिसियाते मध्यम वर्ग को सहारा दिया चुनाव में हारी पार्टियों ने। ये कल के सुदामा आज लक्ष्मीपति के भी कानकाट रहे हैं। चुनाव में यह नम्बर दो के पैसे के बलपर जीतते हैं। जितने लाइसेन्स दिए गए हैं, वे कागजी कार्यवाही में गोलमाल करके ही दिए गए हैं जिसकी सारी जिम्मेदारी नेता की है। उपन्यास का एक पात्र ठीक ही कहता है — 'सर, राजनीति का खेल बहुत ही भयंकर खेल होता है। इसका एक माना हुआ उसूल है कि राजनीति में चार नहीं मौत ही होती है और कोई भविष्यवाणी भी नहीं कर सकता। मालती परुलकर का 'कहाँ पौ फटने वाली है' (१९८१) उपन्यास में स्वतन्त्रता के बाद की

राजनीति का वर्णन हुआ है । लोकसभा का भारत में चुनाव शायद १६५२ के दिसम्बर के दरम्यान हुआ था । १६४७ और १६५२ के राजनैतिक वातावरण में काफी फर्क था । प्रतिष्ठित कांग्रेस में `सत्ता पिपासा` के लक्षण स्पष्ट हो चुके थे । भारतीय राजनैतिक क्षेत्र के विविध पक्षों का, बंगाल में फार-वर्ड ब्लॉक , रेडीकल-सोशलिस्ट पार्टी, कम्युनिस्ट पार्टी का निर्माण, उनकी गतिविधियाँ, काश्मीर में कारावास में पड़े हुए शेख अब्दुल्ला एवं सरकार के मुखिया बख्शी जी की भूमिकाएं, महाराष्ट्र में संयुक्त-महाराष्ट्र समिति का कार्य कलाप, १६५८ - ५६ में डा० नम्बूदरीपाद के कम्युनिस्ट मंत्रिमण्डल का वहाँ के लोकजीवन में प्रभाव आदि अनेक मुख्य-मुख्य राजनीतिक धाराओं में उथल पुथल हो रही थी ।

मार्कण्डेय के `अग्निबीज` (१६८१) उपन्यास में समाज की बदलती हुई राजनीति का वर्णन हुआ है । इस उपन्यास का प्रमुख पात्र ज्वालाप्रसाद है । इस उपन्यास में भ्रष्टाचार ,स्वार्थपरता, भाई-भतीजावाद आदि का वर्णन हुआ है । देश में आदर्श कोरी कल्पना की नींव पर नहीं टिक सकता । आखिर यह अन्याय कब तक चलता रहेगा ? अब तो कानून ने हम सबको बरबाद कर दिया है । सभी को वोट देकर सरकार को बदलने का अधिकार है । हम स्वतन्त्र हैं भाई, स्वतन्त्र ।` सरकार ने हमें कुछ अधिकार दिए हैं, जिसे कोई हमसे छीन नहीं सकता । बोलने का अधिकार , बिना हथियार के एक जगह जमा होने का अधिकार, देश में कहीं रहने का अधिकार, सम्पत्ति अर्जित करने तथा पेशा या व्यवसाय करने का अधिकार । लेकिन हम जहाँ के तहाँ हैं । अगर आप कुछ कहेंगे नहीं, जानेंगे नहीं, उठेंगे नहीं, तो इतने अधिकार पाकर भी इसी तरह गुलाम बने रहेंगे ।` एक स्थान पर उपन्यास में कहा गया है :-`पिछले दिनों ज्वालाबाबू ने जो कुछ किया है, उसे देखते हुए उनसे कुछ कहने का कोई सवाल ही नहीं उठता । ये लगातार चौक के बड़े लोगों से सांठ-गांठ कर गरीब जनता का गला घोंटते रहते हैं और चुनाव में गांधी बाबा की तस्वीर लेकर घूमते हैं । अब लोगों में उनकी पोल खुल गई है। अब आचार्य नरेन्द्रदेव और दूसरे समाजवादी डा० लोहिया और जयप्रकाश जी-

रह ने मिलकर प्रजा समाजवादी दल बना लिया है । आखिरकोई कब तक सरकार का साथ दे सकता है । कहने को योजना पर योजना चल रही है लेकिन देश में गरीबी का हाहाकार बढ़ता जा रहा है । गांधी-आश्रमों के लोग कांग्रेस की राजनीति से अपनी दूरी धीरे-धीरे बढ़ाएं , नहीं तो सत्तावादी कांग्रेसी, गांधी जी को कहीं का नहीं छोड़ेंगे । अब तो बापू का जनसंघ पुराने जमींदारों को गोलबन्द करता जा रहा है, बढ़ रहा है । उसकी मदद करने वाला राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ भी रातदिन संगठन के काम में जुटा है ।

"हम गांधी जी के समाजवाद को सच्चा समाजवाद मानते हैं और अहिंसा के रास्ते क्रान्ति करना चाहते हैं । हम किसी बाहरी देश से विचार उधार क्यों लें, जब हमारे देश में उससे अच्छे विचारों की कमी नहीं है ? लोहिया हैं, जयप्रकाश हैं । क्या इनको मामूली नेता समझते हैं आप लोग ?

"भाई,जवाहरलाल कोई गैर थोड़े ही है । इसी राजशक्ति के लिए ही तो स्वतन्त्रता-संग्राम लड़ा गया । उसे अब नाचीज और उपेक्षा योग्य मानने की भूल करने पर हम जहां के तहां पड़े रह जायेंगे और दूसरे लोग गरीब जनता के हितों का आन्दोलन चलाकर उन्हें अपने साथ कर लेंगे । जिलाधीश अब अंग्रेजों का तानाशाह अधिकारी नहीं रहा । उसे जनता का सच्चा सेवक बनना पड़ेगा । वह देश को गांधी जी के रास्ते पर ले चलने में सहायक होगा ।"

"भारतीय पूंजीपतियों ने स्वतन्त्रता-संग्राम के दिनों में कांग्रेस की मदद करनी शुरू की । वे जानते थे कि महात्मा के कार्यक्रम का अभीष्ट उनके विरुद्ध नहीं था । उससे विदेशी शासन और विदेशी पूंजी की ही हानि होती थी । यह स्थिति देश के पूंजीपतियों के विकास के लिए मनचाही थी । बहरहाल मैं विस्तार में न जाकर इतना ही कहना चाहता हूं कि अब तक यह सत्य किसी

भी विचारवान् व्यक्ति से छिपा नहीं रह गया है । खादी अब गांधी के विचारों का केवल एक प्रतीक बनकर रह गई है । अब इस आन्दोलन का कोई सम्बन्ध भी जनता की समस्याओं से नहीं रह गया है । खादी महंगी और रईसी की चीज बन गई है । उसकी सफाई, तथा रखरखाव, गरीब लोगों के लिए संभव नहीं है । यह तो समस्या का एक पहलू है । दूसरा पहलू थोड़ा अप्रत्यक्ष है । पूंजीवादी विकास ने स्वदेशी की पूरी भावना को ही पटियामेट कर दिया है । देश में करघा-उद्योग पूंजीपतियों पर निर्भर है । उनके लिए सूत उन्हीं की मिलें तैयार करती हैं । बाजार पर भी उनका ही प्रभुत्व है । वितरण और विक्रय के लिए भी उनकी कृपा पर ही निर्भर रहना पड़ता है । यही हाल रुई का है । पूंजीपतियों के हाथ से रुई का व्यवसाय छीन लेना सरकार के बूते से बाहर है । वे सारी रुई थोक में बेचने और खरीदने के लिए पूर्ण रूप से सक्षम हैं और उन्हीं का उस पर प्रभुत्व भी है । मेरे कहने का मतलब यह है कि चरखे और करघे को केन्द्र में रखकर किसी बड़ी सामाजिक क्रान्ति की आशा करना अपने को धोखे में रखना है । ग्राम समाज की स्वायत्तता और स्वावलंबन को वापस लाने के लिए पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का परित्याग आवश्यक है ।"

वर्तमान शासकों की शक्ति और सामर्थ्य से बाहर जा चुका है । अब यह कार्य सर्वहारा के व्यापक और क्रान्तिकारी संगठन द्वारा ही संभव है । हरनाम सिंह ने हाथ जोड़कर लोगों को नमस्कार किया और बैठ गए । पूंजीवादी व्यवस्था का आधार ही शोषण है, इसलिए शोषण को कायम रखने में जो भी चीजें सहायक हैं, कांग्रेस सरकार उन्हें कभी भी नहीं छोड़ सकती । कौन इतना बेवकूफ होगा, जो अपनी ही जड़ पर कुल्हाड़ी मारेगा ? आधार ही बदल जाएगा तो ऐसी सरकार टिकेगी कहाँ ? यह जो समाजवादी शब्दावली सुनाई पड़ती है, बढ़ते हुए विरोध को समाविष्ट

करने और भ्रम में डालने का उपाय मात्र है । अन्त पढ़ने पर यह व्यवस्था और भी क्रान्तिकारी नारे देकर जनता को गुमराह कर सकती है । इस उपन्यास में मार्कण्डेय ने समाज के मध्यवर्गीय परिवार का चित्रण किया है । इस उपन्यास में ग्रामीण जीवन के व्यक्तियों का आदर्शवादी दृष्टिकोण व्यक्त [illegible] किया गया है ।

उपर्युक्त स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में जीवन की विसंगतियों के अतिरिक्त अनेक प्रसंग मिलते हैं । सामयिक राजनीति में सक्रिय भाग न लेते हुए भी उपन्यास लेखक उससे अछूते नहीं रह सके और उन्होंने उसका कोई न कोई पहलू स्पर्श किया है । राजनीति को उन्होंने भले ही सीधे रूप में न लिया हो, किन्तु उन्होंने अनेक राजनीतिक संकेत दिए हैं । पिछले अध्याय में बताया जा चुका है कि उनमें भारतीय स्वतंत्रता-आन्दोलन के सम्बन्ध में अनेक संकेत प्राप्त होते हैं । महात्मा गांधी के अहिंसात्मक आन्दोलन और उसके विभिन्न पक्षों के अतिरिक्त आतंकवादी क्रान्तिकारियों की गतिविधियों के सम्बन्ध में मूल्यवान सामग्री इन उपन्यासों में उपलब्ध होती है । उपर्युक्त स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में उपलब्ध राजनीतिक सन्दर्भों को ध्यान में रखते हुए निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि उन्होंने स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में देखे गए सपनों और आदर्शों के खंडित होने, नेताओं के झूठे वायदों, झूठे नारों, उनकी करनी-कथनी में अन्तर, उनकी पद-लोलुपता, धन-लोलुपता, स्वार्थान्धता, राष्ट्रीय हित के स्थान पर अपने हित की बात सोचना, चारों तरफ घूसखोरी और काले धन्धे के गरम बाजार आदि पर बहुत बल दिया है । उनमें राजनीतिक, आर्थिक जीवन से जुड़े पक्ष, राजनीति एवं अर्थ की भौतिक नीति से उत्पन्न विषमताएँ और युद्ध एवं मानव-जीवन पर पड़े प्रभाव आदि अनेक प्रसंग मिलते हैं । लोकतंत्रात्मक शासन-पद्धति स्थापित हो जाने पर भी "लोक" की आवाज़ कहीं सुनाई नहीं देती । सर्वत्र सत्तारूढ़ व्यक्तियों की तूती बोलती है । आर्थिक सम्पन्नता और शक्ति-वैभव पर उनकी दृष्टि रहती

है । यहाँ तक कि अपनी शक्ति और सत्ता बनाए रखने के लिए नेता लोग ज़बरदस्त लोगों (muscle men) का सहारा लेते हैं । राष्ट्र की हित-कामना के स्थान पर उनमें `अपना-जीवन-व्यापार` प्रमुख है । उनमें व्यावसायात्मिका बुद्धि प्रधान है । इन उपर्युक्त उपन्यासों में राजनीतिक दलों के नेता हैं । वे सभाओं और कान्फ्रेन्सों में अध्यक्षीय पद ग्रहण कर भाषण देते हैं । उनमें स्वार्थवादी दृष्टिकोण अवश्य है, किन्तु अन्तिम लक्ष्य उनका आदर्शवाद है । वे स्वतन्त्रता को `सर्वतन्त्र स्वतन्त्र` न मानकर सच्चे लोकतन्त्रात्मक में स्थापित होते हुए देखना चाहते हैं । वास्तव में वे स्वतन्त्रता-संग्राम-काल में जो आदर्श देश का जीवन स्पन्दित कर रहा था उसे ही यथावत्, स्वतन्त्रता के अनुरूप विकसित होते हुए और गांधी जी के `रामराज्य` की कल्पना को सार्थक रूप में परिणत होते हुए देखना चाहते हैं । गांधी जी के बाद देश के नैतिक पतन पर उन्हें अत्यन्त क्षोभ है । उनके अनुयायी अब कार-कोठी, पद-पदवी, वेतन-भत्ता और `तीन-मूर्ति` जैसे आलीशान मकानों के स्वप्न देखने लगे हैं । एक राजनीतिक नेता के अनुसार, जिस दिन जवाहरलाल नेहरू `तीनमूर्ति` भवन में जाकर रहे उसी दिन राज-नीति के क्षेत्र में विलास-वैभव का भोग करने की लालसा बढ़ी और फलतः भ्रष्टाचार, घूसखोरी आदि का बोलबाला हुआ । गांधी जी की कुटिया ग्राम सेवा, त्याग, तपस्या, बलिदान , आत्म-संयम आदि का प्रतीक थी । वह शान-शौकत की बढ़ती हुई लालसा की चकाचौंध में अदृश्य हो गई । गांधी जी ने ग्राम-स्वराज्य की जो कल्पना की थी वह स्वतन्त्र भारत की राजनीतिक-आर्थिक योजनाओं में दब गई । विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं से देश को लाभ तो अवश्य हुआ है, किन्तु उससे लोगों को `रुपया कमाने` या पेट भरने का मौका मिला है, इस तथ्य से भी इन्कार नहीं किया जा सकता । अनेक योजनाएं सरकारी कागजों में पूरी हो जाती हैं, किन्तु व्यावहारिक रूप में उनका कोई अस्तित्व दिखाई नहीं देता । आज के राज-

नीतिक यह भूल गए हैं कि आजादी की नींव मजबूत बनाने के लिए स्वतन्त्रता-संघर्ष के दौरान किए गए बलिदान से भी अधिक त्याग, बलिदान और कठोर परिश्रम की आवश्यकता है, न कि शान-शौकत और आरामतलबी की । कुछ उपन्यासकारों ने राजनीतिज्ञों की इस प्रवृत्ति पर व्यंग्य किया है । स्वतंत्रता-प्राप्त हो जाने पर भी देश गरीब है, नेता लोग यह भूल गए हैं । स्वतंत्रता-संघर्ष में गांव-गांव घूमने वाले नेता अब तरह-तरह के `धन्धे करने में लगे हैं । `मुक्तिबोध` उपन्यास में जैनेन्द्र ने व्यावहारिक राजनीति का अच्छा वर्णन किया है । स्वतंत्र होने के बाद नेता, कुर्सी के लोभ में पड़ गए । `कामराज योजना` के अन्तर्गत अनेक मंत्रियों को पद-त्याग करना पड़ा । किन्तु इसके बदले उन्हें अपनी पत्नियों, पुत्र-पुत्रियों आदि की भिड़कियां सहनी पड़ीं क्योंकि उन्हें तो अभी `बहुत कुछ पाना` था । बिना सत्ता के उनकी इच्छाएं कैसे पूरी होंगी । पत्नियां और बच्चे अपने को रीता-रीता समझने लगे । वे अपने को `बेकार` समझने लगे । सत्ता से अलग रहने पर भी मंत्रियों को सत्ता के ही स्वप्न दिखलाई देते थे । राजनीति के पेचीदे मामलों की ओर जैनेन्द्र ने भी अत्यन्त सुन्दर संकेत दिए हैं । आज जीवन में, भ्रष्ट राजनीति के कारण, `पहुंच` का महत्त्व हो गया है । बिना `पहुंच` के चपरासी भी नौकरी नहीं पा सकता । राजनीति में लोगों की भावना `यथार्थ` की ओर है । स्वयं राजनीतिक लोग चुनाव के समय या विधान सभाओं में वोट मिलाने या मिलवाने के समय आपस में लेन-देन` का व्यापार करते हैं । स्वतंत्र भारत में दलबदलुओं का, `आया राम गया राम` का जमाना है । राजनीति `धन्धा` बन गई है । इसीलिए सेवा-भाव तिरोहित हो गया है । राजनीति में मध्यस्थता करने वाले या समझौता या मेल मिलाप करने वाले भी `रुपए के बल` पर सफल हो पाते हैं । `सब प्रकार के सुभीते` सत्ता के साथ जुड़े मिलते हैं । सत्ता के आसपास स्वार्थ मंडराता रहता है । यह स्वार्थ केवल परिवार के लोगों का ही नहीं होता, आश्रय में रहने वाले लोगों का भी होता है ।

जैनेन्द्र तथा कुछ अन्य उपन्यासकारों ने राजनीति के सैद्धान्तिक पक्ष पर विचार करते हुए आदर्शवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है । यह कार्य प्राय: गांधी जी के व्यक्तित्व को लेकर सम्पन्न हुआ है । ऐसा कर वे सम्पूर्ण मानवता को समेट लेना चाहते हैं । कोई-न-कोई पात्र (जैसे, जैनेन्द्र कृत `जयवर्धन` में आचार्य ऐसा होता है` जिसके माध्यम से उपन्यास-लेखक गांधीजी की नीति को पुन: प्रतिष्ठित करना चाहते हैं । राजनीति जैसे विशुद्ध तो नहीं रहती, उसमें छल-छन्द अवश्य रहता है । इसीलिए आज की जनतंत्रीय राजनीति में बुराइयां दिखाई देती हैं । जनतंत्र का असली रूप सामने नहीं आ पाया । `Democracy' की जगह 'mobocracy' है । जनतंत्र तमाशा बनकर रह गया है । वह लोकसभा और विधान-सभाओं की चहारदीवारी में बन्द होकर रह गया है । निर्वाचित हो जाने पर नेताओं का काम समाप्त हो जाता है । प्रतिनिधि जनता को भूल जाते हैं, सत्ताप्रतिनिधियों को भूल जाती है । बस सत्ता ही सत्य रह जाती है । नेता लोग घूम घूम कर समाज-सुधार, संस्कृति-प्रेम, निस्वार्थ सेवा आदि का उपदेश दिया करते हैं, किन्तु वे `पर उपदेश कुशल बहुतेरे` जे आचरहिं ते नर न घनेरे` वाली उक्ति चरितार्थ करते हैं या अंग्रेजी की इस उक्ति का पालन नहीं करते कि Charity begins at home' वे दहेज प्रथा के विरुद्ध बोलेंगे ।` विवाहोत्सवों के अवसर पर फिजूलखर्ची के विरुद्ध बोलेंगे, अछूत-प्रथा के विरुद्ध बोलेंगे, किन्तु स्वयं अपने उपदेशों का पालन नहीं करेंगे । वे झूठे मुखौटे लगाए फिरते हैं । स्वातंत्र्योत्तर उपन्यास-लेखक उन्हें बेनकाब करना चाहते हैं और इसीलिए गांधी जी के आदर्शों का सहारा लेते हैं । वास्तव में राजनीति तो वही अच्छी है जो जनता के हित में हो । वह राजनीतिज्ञों को गांधी जी के मतानुसार, अपने कर्तव्य की ओर प्रेरित करे । वे अपने को जनता का `ट्रस्टी` समझें । इसके विपरीत आज के राजनीतिक शासन को अपनी `सुरक्षा` का साधन बनाए हुए हैं । गांधी जी की भांति वे प्रत्येक नागरिक

को उसके अपने प्रति, परिवार और समाज के प्रति तथा अन्त में देश या राष्ट्र के प्रति जिम्मेदार बनाना चाहते हैं । वे चाहते हैं कि देश के लिए वे सब कुछ का त्याग कर दें । तभी राजनीति में सच्चरित्रता आ सकती है, राजनीति में उच्च प्रवृत्तियों का संचार हो सकता है । यदि प्रयत्न किया जाये तो, राजनीति समाज का संस्कार कर सकती है । और यह तभी हो सकता है जब स्वतंत्र भारत में व्याप्त 'Crisis of character' और 'Crisis of leadership' दूर हो । वास्तविक जनतंत्रात्मक स्वतंत्रता की यह नींव है ।

वास्तव में उपर्युक्त उपन्यास लेखकों ने स्वतंत्र-भारत की राजनीति को नैतिकता, शुद्धाचरण, चारित्रिक दृढ़ता, ऐक्य भावना आदि के व्यापक संदर्भ में देखने का प्रयास किया है ।

आलोच्यकालीन उपन्यासकारों ने आज के अर्थ-प्रधान युग और राजनीति के साथ उसके सम्बन्ध की ओर भी संकेत दिए हैं । आज का युग अर्थ-प्रधान युग है और अर्थ ने राजनीति, यहाँ तक कि सामाजिक जीवन और व्यक्तिगत सम्बन्धों को भी प्रभावित किया है । स्वतन्त्र-भारत का व्यक्ति पैसेबहुत अधिक जुड़ गया है । देश की राजनीति और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति निर्धारित करने में अर्थ का, फलत: द्वन्द्वात्मक परिस्थितियों की दृष्टि से, महत्व है । अर्थ पर आधारित रहने के कारण संसार में पूँजीवादी, समाजवादी या साम्यवादी विचार धाराएँ उभर कर सामने आईं और राजनीतिक विग्रह बढ़ाने में सहायक हुईं । अर्थ के आधार पर ही समाज में वर्ग-विभाजन है । आज अमीर और अधिक अमीर हो गए हैं और भुखमरी तथा गरीबी घटी नहीं । मँहगाई बढ़ रही है । अन्नसंकट भी व्यापारियों की स्वार्थपूर्ण अर्थनीति के कारण है । तस्करी के पीछे भी जल्दी-से-जल्दी धन-संचय की भावना है । काला बाजारी या चोरबाजारी,

बोलचाल की भाषा में `नं० २` का धंधा या अंग्रेजी में 'Under the table transaction' भी स्वतंत्रभारत की आर्थिक-राजनीतिक विषमता का परिणाम है। इन सभी आर्थिक स्थितियों से स्वतंत्र-भारत का नागरिक एक अजीब भटकाव और संत्रास तथा कुंठा की स्थिति में रह रहा है। राजनीति सिक्के की राजनीति हो गई। आलोच्यकालीन उपन्यासकारों ने अर्थ से सम्बन्धित इन पक्षों पर भी प्रकाश डाला है। बड़े बड़े उद्योग-धन्धों, कल-कारखानों, मिलों आदि ने पूंजीवाद को दृढ़ बनाने में सहायता प्रदान की है। राज्य और ये व्यवसाय काफ़ी निकट आ गए हैं। पूंजीपतियों का राजनीतिज्ञों से गठबन्धन हो गया है। रुपये के बल पर वे नेताओं को `खरीदने` का व्यापार करते हैं। राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक या व्यावसायिक समझौते करते समय नेता करोड़ों रुपए की रकम हज़म कर डकार भी नहीं लेते, लोकसभा और विधान-सभाओं के निर्णयों में टांग अड़ाते हैं। राजनीति के पैंतरे में उनकी दिलचस्पी रहती है। विकासशील देशों की राजनीति में बड़े-बड़े देशों (अमरीका या रूस) की अर्थ-नीति का भी हाथ रहता है। देश-देश के बीच में ही नहीं, व्यक्ति-व्यक्ति के सम्बन्ध भी प्रभावित होते हैं। पूंजीपतियों और उद्योगपतियों के सामने जीवन-मूल्य या तो होते ही नहीं या भिन्न प्रकार के होते हैं। सरकारी आंचों, तकादलों में भी रुपया काम करता है। ऐसी अर्थनीति के कारण मानव मानव नहीं रह जाता। उसमें आत्म-विलास की भावना बढ़ जाती है। अर्थलोलुप व्यक्ति इन्सान की लाचारी से नाजायज़ फ़ायदा उठाता है। पूंजीवाद का समाजवाद या साम्यवाद से संघर्ष होता है और राजनीति में उग्रता आ जाती है। वामपन्थियों की उग्रता बढ़ जाती है। कुछ उद्योगधन्धों के केन्द्रीकरण या विकेन्द्रीकरण की समस्या भी राजनीतिक हो गई है। स्वतंत्र-भारत के इस आर्थिक चक्र की चर्चा इन उपन्यासकारों ने की है। उन्होंने इस बात की ओर भी संकेत किया है। (मज़दूरों की हड़ताल आदि का वर्णन करते समय) कि आज की आर्थिक

परिस्थिति में श्रम का अवमूल्यन होता जा रहा है, मजदूरों के ट्रेड यूनियन या संगठन बनते जा रहे हैं, स्वभावत: हड़ताल और तालाबन्दी की स्थितियां पैदा हो रही हैं । उसमें स्वभावत: राजनीति आ जाती है । उन्होंने इस बात की ओर भी संकेत किया है कि भारत की सम्पन्नता शहरों में सिमटती जा रही है । देहातों में वह दिखाई नहीं देती । हिन्दुस्तान में आज भी अनेक व्यक्ति भूखे, नंगे, अशिक्षित और गंवार दिखाई पड़ते हैं । पूंजीपतियों द्वारा शोषण की नीति की निंदा भी इन उपन्यासकारों ने की है । बेरोजगारी के फलस्वरूप नवयुवक राजनीति में उग्रता लाए बिना नहीं रहते । `समाजवाद` और `गरीबी हटाओ` जैसे नारे खोखले नारे बनकर रह गए हैं ।

अध्याय — ६

स्वातंत्र्योत्तर वादमुक्त राजनीति

स्वतन्त्र-भारत में कम्युनिज़्म भी है और कम्युनिज़्म से प्रभावित उपन्यास-लेखक भी हैं । किन्तु एक तो अब यशपाल जैसा प्रसिद्ध वामपंथी उपन्यास-लेखक नहीं है, दूसरे जो हैं भी, उनकी संख्या बहुत कम है । वैसे भी केवल पश्चिम बंगाल को छोड़कर, कम्युनिज़्म का हिन्दी प्रदेश में बहुत अधिक प्रचार नहीं है ।

जैसा कि पीछे उल्लेख किया जा चुका है, परतन्त्र-भारत में कांग्रेस, मुस्लिम लीग और ब्रिटिश सरकार की राजनीति प्रमुख राजनीतिक प्रवृत्तियां थीं । इनके अतिरिक्त उदार दल (Liberal) और हिन्दू महासभा जैसे राजनीतिक सम्प्रदाय भी थे । उदार दल में सर तेजबहादुर सप्रू, सर सी०वाई० चिन्तामणि, सर फ़ीरोज़शाह आदि कुछ उच्च अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त, सम्पन्न और ब्रिटिश सरकार के प्रति आस्था रखने वाले लोग थे । वे अंग्रेजी में भाषण देने और प्रस्ताव पारित करने में पटु थे । वे जनसाधारण से दूर थे । वे जन-आन्दोलन चलाने की क्षमता नहीं रखते थे । हिन्दी उपन्यासकारों में इस उदारवादी राजनीतिक प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करने वाले न तो उपन्यासकार मिलते हैं और न इस प्रवृत्ति के संकेत हिन्दी उपन्यास में मिलते हैं ।

इसके विपरीत हिन्दूमहासभा के कहीं-कहीं संकेत मिल जाते हैं — विशेषत: वीर सावरकर और भाई परमानन्द के नामोल्लेख के सन्दर्भ में ।

परतन्त्र-भारत की राजनीति में हिन्दू महासभा अपनी नीति और विचार देश के सामने रखती रहती थी । किन्तु एक तो स्वयं हिन्दुओं में हिन्दू महासभा के समर्थक बहुत कम थे, दूसरे कांग्रेस जैसी सशक्त राष्ट्रीय संस्था की ओर से भी उसका विरोध होता रहता था । कांग्रेस का उद्देश्य हिन्दू-मुस्लिम एकता था, इसलिए हिन्दू महासभा की नीतिका विरोध करना आवश्यक हो जाता था । मुस्लिम लीग हिन्दू महासभा की राजनीति का उपयोग कांग्रेस की राष्ट्रीय नीति का विरोध करने के लिए करती थी, क्योंकि वह कांग्रेस को हिन्दू-संस्था समझती थी । ब्रिटिश सरकार मुस्लिम लीग और हिन्दू महासभा दोनों को प्रोत्साहन देती थी -- यद्यपि उसने हिन्दू महासभा को उतनी शक्तिशाली संस्था कभी नहीं माना जितना वह कांग्रेस और मुस्लिम लीग को मानती थी ।

हिन्दू महासभा के विचारों का, जिन्हें हम हिन्दू राष्ट्रवाद कह सकते हैं और जिस राष्ट्रवाद का प्रतिनिधित्व जनसंघ और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ द्वारा माना जाता है, प्रतिनिधित्व करने वाले उपन्यासकार एक प्रकार से हैं ही नहीं । केवल गुरुदत्त ही एक ऐसे सशक्त उपन्यासकार हैं जिन्होंने हिन्दू राष्ट्रवाद का व्यापकतम अर्थ ग्रहण कर उपन्यासों की रचना की है ।

(१)

जहाँ तक वामपंथी-उपन्यास लेखकों से सम्बन्ध है, यशपाल का नाम आदर के साथ लिया जाता है । यशपाल क्रान्तिकारी आन्दोलन में भाग लेते हुए जेलयात्रा कर चुके थे । उन्हें जीवन-संघर्ष से भागना पसन्द नहीं

नहीं था । समाजवादी, यथार्थवादी और वामपंथी (मार्क्सवादी) दृष्टि-कोण होने के कारण उन्हें ‘बुर्ज्वा’ मनोवृत्ति पसन्द न थी । ‘कला जीवन के लिए है’ में उन्हें विश्वास था । मार्क्सवाद का आर्थिक पक्ष उन्होंने सफलतापूर्वक उभारा है । उनका दृष्टिकोण भौतिकतावादी है । यशपाल के लगभग सभी उपन्यासों में मार्क्सवादी राजनीतिक विचारधारा पाई जाती है । उनका सामाजिक चिन्तन भी राजनीति से प्रभावित है । उनके उप-न्यासों में राजनीतिक घटनाएं पृष्ठभूमि के रूप में नहीं विधिवत् रंगमंच पर आती हैं । ‘दादा कामरेड’ (१९४१), ‘देशद्रोही’ (१९४३), ‘पार्टी-कामरेड’ (१९४६) आदि में तो वह है ही, आलोच्य काल में लिखित ‘मनुष्य के रूप’ (१९४९), ‘झूठा सच’ (१९५८), ‘छोटी सी बात’ (१९५९) और ‘बारह घंटे’ (१९६२) में द्वितीय महायुद्ध की छाया में देश के राजनीतिक दलों की गतिविधि, अंग्रेजों द्वारा चलाए गए दमन-चक्र, आजाद हिन्द फौज, देश के विभाजन और स्वातन्त्र्योत्तर घटनाओं का चित्रण है । कम्युनिस्ट विचारधारा से सम्बद्ध होने के कारण उनके पात्र अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, मजदूर संगठन, वर्ग-संघर्ष, अर्थ व्यवस्था आदि में रुचि रखते हैं । उन्हें कांग्रेस की राष्ट्रीय गतिविधि में अधिक विश्वास नहीं है । साम्यवादी दल को ही वे मसीहा मानते हैं । सामन्तों और पूंजीपतियों को वे मिटा डालना चाहते हैं । उनमें सैद्धान्तिक आग्रह इतना अधिक है कि कभी कभी वे पात्रों के चित्रण में विसंगतियां उत्पन्न कर देते हैं (जैसे ‘झूठा सच’ में जयदेव के सम्बन्ध में) । ‘मनुष्य के रूप’ में यद्यपि सैद्धान्तिक आग्रह कम है, तो भी उसकी मूल प्रेरणा मार्क्सवाद से ही मिली है और मानव-स्वरूप के परिवर्तन में मूल कारण आर्थिक माना गया है (सोमा और धनसिंह इसके प्रमाण हैं) । इस उपन्यास में १९४२ में किए गए पुलिस अत्याचारों और पूंजीपतियों की अनैतिकता के चित्र प्रस्तुत किए गए हैं । किसी का कम्युनिस्ट होना नारी के लिए आकर्षण बताया

गया है । `झूठा सच ` में स्थान-स्थान पर राजनीतिक विचारधाराओं के गहरे-चटकीले रंग हैं । प्रस्तुत विषय की दृष्टि से उनका `झूठा सच ` (पहला भाग, १९५८, दूसरा भाग, १९६०) उपन्यास महत्वपूर्ण है । यह उपन्यास भारत-विभाजन पर आधारित है और लेखक ने राजनीतिक नेताओं के स्वार्थ का चित्रण करते हुए, आर्थिक विषमताओं के कारण, आज के जीवन का दिग्भ्रान्त हो जाने का चित्रण किया है । जयदेव व्यक्ति होता हुआ भी एक वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है और जिस वर्ग की देश में संख्या काफी अधिक है । जयदेव ईमानदारी से जीवन शुरू करता है, किन्तु राजनीतिक-आर्थिक दबावों में बेईमान होकर आधुनिक `क्राइसिस ऑव कैरेक्टर ` का प्रतीक बन जाता है । लेखक ने नेताओं की स्वार्थपूर्ण और मात्र चुनाव जीतने और अपनी स्थिति सुदृढ़ बनाने की राज-नीति का, जिसके कारण देश नष्ट हो रहा है, उल्लेख किया है । उपन्यास का प्रधान नारी-पात्र, तारा, के माध्यम से उन्होंने नारी के शोषण का चित्रण किया है । आज का मनुष्य `मनुष्य रूपेण ` पशु है । इस उपन्यास में लेखक ने लोकतंत्र का प्रश्न भी उठाया है । उन्होंने इस बात की ओर संकेत किया है कि मानव-जीवन को सुखपूर्ण बनाने के बजाय वह अभिशाप बन गया है । मर्सी के शब्दों में `इन कांग्रेसियों का तो सभी जगह यही हाल है । अस्पताल में जिसे देखो, मिनिस्टरों और पार्लियामेन्ट के मेम्बरों की चिट्ठी लिए चला आ रहा है । जुकाम भी हो जाय, तो वार्ड में आ लेटते हैं और सब कुछ फ्री करवा लेते हैं । जो गरीब हैं, उनके लिए जगह नहीं है । डॉक्टर अपने ऊपर के लोगों को यह करते देखते हैं तो जहाँ मौका देखते हैं, वह भी हाथ मार लेते हैं । ` समाजवाद के नाम पर कांग्रेसी नेता अपनी जेब भरने के साथ पूंजीपतियों का हित साधन कर रहे हैं वह शोषण स्वतंत्र-भारत में लोकतंत्र और जनसेवा के नाम पर चल रहा है । जनवादी शक्तियाँ ही इस अनाचार के विरुद्ध क्रान्ति कर सकती हैं ।

क्योंकि देश का भविष्य नेताओं के हाथ में नहीं, जनता के हाथ में है।
लेखक ने इस बात की ओर भी संकेत किया है कि स्वतन्त्र-भारत में किस
प्रकार गांधी जी के नाम पर उनके सिद्धान्तों और आदर्शों की हत्या
की जा रही है। यद्यपि लेखक को स्वयं गांधीवाद में विश्वास नहीं है,
वरन् उसकी खिल्ली उड़ाता है, तो भी एक स्थान पर व्यंग्य करता हुआ
कहता है -- "कांग्रेसियों ने गांधी जी से एक ही बात सीख ली है कि
चाहे जिस लड़की या स्त्री के कंधे पर हाथ रख लें। सभी अपने को
राष्ट्रपिता समझने लगे हैं।" यशपाल ने कांग्रेसी नेताओं के आचरण
और उनकी नीति पर तीखे व्यंग्यों का प्रहार किया है और स्वतन्त्र -
भारत की राजनीति के फलस्वरूप उत्पन्न सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक
विषमताओं की ओर इशारा किया है। सूद जैसे ढोंगी नेता देश में
बहुत हैं। लेखक क्योंकि कम्युनिस्ट है, इसलिए वह गांधी जी की कार्य-
प्रणाली, -- उपवास, सत्याग्रह, हृदय-परिवर्तन आदि में विश्वास नहीं
रखता। इस उपन्यास का महत्त्वपूर्ण कटु सत्य भारत का विभाजन है
जिसका चित्रण यशपाल ने मानवीयता और संवेदनशीलता के सन्दर्भ में
किया है। लेखक में मार्क्सवाद की प्रचारात्मकता के स्थान पर कलात्मक
संयम पाया जाता है। भोला पांधे की गली का चित्रण अत्यन्त कला-
त्मक सजीवता लिए हुए है। उन्होंने स्वातन्त्र्योत्तर काल के नेताओं और
ठेकेदार भाषण देने के उनके ढंग का तटस्थता के साथ वर्णन किया
है। उपन्यास के भीतर आधुनिक जीवन का संकट बोध और नये मूल्यों
की तलाश छिपी हुई है। यह उपन्यास उस समय लिखा गया था जब
भारत भीषण संक्रमण-काल से गुजर रहा था और उसे आधुनिक मूल्य-संकट
की प्रक्रिया का सामना करना पड़ रहा था। उसमें मूल्यों की टकराहट
है। "झूठा सच" दो खण्डों में विभक्त है -- १. "वतन और देश" और
"देश का भविष्य" जिसमें उन्होंने सामयिक सामाजिक-राजनीतिक वाता-

चरण ऐतिहासिक यथार्थ के रूप में चित्रित किया है । दूसरे खण्ड में देशव्यापी भ्रष्टाचार का चित्रण किया है । विभाजन के समय साम्प्रदायिक वैमनस्य की जो भयंकर आंधी चली उससे मानव का मानव में विश्वास उठ गया । देखते-देखते राष्ट्र की चिन्तन-धारा बदल गई । उसकी काया पलट गई । इस सबका इस उपन्यास में चित्रण हुआ है । उनके `मनुष्य के रूप` (१९५८) में समाज की मौजूदा व्यवस्था के प्रति असन्तोष व्यक्त किया गया है और पूंजीवादी सभ्यता पर कटाक्ष किए गए हैं । इस उपन्यास का फलक वैविध्यपूर्ण है, उसमें बदलते हुए सामाजिक और राजनीतिक पहलुओं से गुजरते हुए सम्बन्धों, मूल्यों, भावनाओं आदि का उद्घाटन किया गया है । यह उपन्यास प्रेम को केन्द्र-बिन्दु बनाकर मनुष्य के अनेक रूप उजागर करता है । लेखक की दृष्टि नारी-पात्रों पर अधिक केन्द्रित रही है क्योंकि समाज में नारियां ही अधिक शोषित और पीड़ित हैं । यहां लेखक की साम्यवादी जीवन-दृष्टि मूल्यों की नई व्यवस्था प्रस्तुत करती है । प्रसंगवश उसमें मार्क्सवादी आन्दोलन, राष्ट्रीय आन्दोलन आदि का उल्लेख भी हो गया है ।

वामपंथी उपन्यास-लेखकों में नागार्जुन का आदरपूर्ण स्थान है । उनके `रतिनाथ की चाची` (१९४९) में समाजवादी बोध है । रतिनाथ की चाची, गौरी, मरणासन्न होते हुए भी महायुद्ध में रूस-विजय की कामना करती है । ताराचरण का व्यक्तित्व भी समाजवादी है` । `बल-`चनमा` (१९५२) में दरभंगा-पूर्णिमा अंचल के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक - राजनीतिक अधिक ,सांस्कृतिक कम — जीवन का वर्णन हुआ है । उनका दृष्टिकोण मार्क्सवाद की ओर झुका हुआ है । लेखक ने आंचलिक परिवेश में मध्यम-वर्गीय किसान की दु:खभरी कहानी कही है ।

जमींदारों, पूंजीपतियों और सामन्तों के विरुद्ध लेखक ने विद्रोहाग्नि प्रज्वलित की है। बलचनमा अपनी माँ और बहन पर किए गए अत्याचारों को सहन करता है, किन्तु झुकता नहीं। लेखक ने गाँधी जी के नमक आन्दोलन की व्यर्थता सिद्ध की है। `बाबा बटेसरनाथ` (१९५४) में लेखक ने जमींदारों की निरंकुशता का वर्णन किया है। आजादी सिर्फ नेताओं को मिली बताई गई है, न कि साधारण जन को। इस उपन्यास में जमींदारी उन्मूलन के पश्चात् की परिस्थितियों का चित्रण हुआ है। जमींदारों की शोषण करने और धन कमाने की नीति पर उन्होंने प्रकाश डाला है। लेखक ने जीवनाथ और जैकिसुन के द्वारा किसान-आन्दोलन के संगठन का भी उल्लेख किया है। दयानाथ कांग्रेस में आस्था रखते हुए नागपुर जेल से छूटकर किसानों के साथ आ मिलता है। लेकिन कांग्रेसियों का स्वार्थी रूप देखकर जीवू का दिल उनकी ओर से हटने लगता है। किसानों को कांग्रेसी एम०एल०ए० से कोई मदद नहीं मिलती। मदद मिलती है तो जनवादी नौजवान संघ के प्रेसीडेन्ट वकील श्यामसुन्दर से, लेखक का निष्कर्ष यह है कि वर्तमान राजनीतिक पार्टियों से देश का कल्याण नहीं हो सकता और सत्ताधारियों तथा पूंजीपतियों से मोर्चा लेना अत्यन्त आवश्यक है। लेखक ग्राम कमिटी बनवा भी देता है जिससे गाँव की सारी समस्याएं हल हो जाती हैं। लेखक का स्पष्ट झुकाव साम्यवादी दल की ओर है। यही दल व्यापक संघर्ष कर समस्याओं का समाधान कर सकता है। नागार्जुन के इस तथा अन्य उपन्यासों में समाजवादी यथार्थ (Socialist realism) का चित्रण मिलता है। `वरुण के बेटे` में मछुआरों की बेटी कम्युनिज्म का प्रचार करती है। कोसी बाँध की योजना के सन्दर्भ में कांग्रेस की काली करतूतों का चिट्ठा खोला गया है। उनके `दुखमोचन` उपन्यास में सर्वोदय आन्दोलन का उल्लेख हुआ है। वास्तव में उनके उपन्यासों में वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था व कांग्रेस सरकार के कुकृत्यों की कड़ी आलोचना की गई है। वे चोरी की तरह किसान को संघर्ष से भिन्न जाना चित्रित नहीं करते। `उग्रतारा`

उपन्यास में भी कांग्रेस सरकार का ठेकेदारों के साथ मिलकर घूस खाने का उल्लेख हुआ है । 'हीरक जयन्ती' उनका एक सशक्त उपन्यास है जिसमें आज के नेताओं द्वारा अपना अभिनन्दन कराने, जयन्तियां मनवाने और पानी की तरह रुपया बहाने की प्रवृत्ति अंकित की गई है । नेता लोग बाहर से देशभक्त, लोकहित चिन्तक हैं, परन्तु भीतर से अर्थ-लोलुप, स्वार्थी, अपना हित चाहने वाले, अनैतिक व्यवहार करने वाले, सुन्दर स्त्रियों के साथ रमण करने वाले और जनता के पैसे के सहारे गुलछर्रे उड़ानेवाले हैं । मंत्रियों के लड़के गांजे का अवैध व्यापार करते हैं । मंत्री लोग अपने पदों का अनुचित प्रयोग करते हैं ।

रांगेय राघव कृत 'घरौंदे' (१९४१, १९४६ ?) में भ्रष्टाचार, स्वार्थपरता का वर्णन किया गया है । सत्ता प्राप्त व्यक्ति, चाहे वह किसी भी क्षेत्र का हो, भयंकर हो सकता है । प्रोफेसर मिश्र के द्वारा मध्यमवर्ग के उन व्यक्तियों का चित्र अंकित किया गया है जिन्होंने शिक्षा को वासनापूर्ति का व्यवसाय बना रखा है । लेखक ने यह स्थान- स्थान पर कहा है —इन लोगों ने शिक्षा संस्थानों को व्यापार का साधन बना लिया है जहां स्त्रियां खरीदी और बेची जाती हैं । चीरेश्वर कहता था कि लवंग की हाजिरी कम हो गई थी, इससे वे इम्तिहान नहीं दे सकती थीं । उसी शाम को वह प्रोफेसर मिश्रा के यहां गई कि वह शायद हाजिरी बढ़वा दे, क्योंकि उसकी ही चलती है और वह अनुचित कार्यों की स्वार्थसिद्धि करा दिया करता था ।' यह है शिक्षा-क्षेत्र में सत्ता प्राप्त अधिकारियों का चरित्र । शिक्षा के क्षेत्र में जब ऐसी अनीति और भ्रष्टाचार हो वहां अन्य क्षेत्रों का तो कहना ही क्या , लेखक का

संकेत राजनीति की तरफ है । इस प्रकार रांगेय राघव आधुनिक जीवन के विकृत सामाजिक-राजनीतिक दृष्टिकोण का समर्थन ० नहीं करते, वरन् उन्होंने अभिजात वर्ग के शिक्षित समुदाय से उत्पन्न आधुनिक जीवन में पाश्चात्य संस्कृति के अन्धानुकरण तथा मूल्यविहीन, आस्थाहीन, दृष्टिकोण का पर्दाफाश किया है । उन्होंने अपने `बन्दूक और बीन ` (१९५०) उपन्यास में कम्युनिस्ट आन्दोलन, हिरोशिमा बमकाण्ड, सन् ४२ का भारत छोड़ो आन्दोलन, वर्ग-संघर्ष, महायुद्ध की समस्या का वर्णन किया है । इस उपन्यास का प्रमुख पात्र रनवीर है । इस उपन्यास में रांगेय राघव ने मानव जीवन को नये दृष्टिकोणों से देखा है । युद्ध की विभीषिका और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक दांवपेंच का वर्णन करते हुए उन्होंने भारत की स्वातन्त्र्योत्तर राजनीति पर अनेक कटाक्ष किए हैं । उनके `आखिरी आवाज ` (१९६२) उपन्यास में भी आज की राजनीति का वर्णन हुआ है । आजकल देश में काला धन्धा तथा भ्रष्टाचार ऊपर से नीचे तक फैला हुआ है । इस उपन्यास में यही व्यक्त किया गया है कि देश का कितना अधिक चारित्रिक पतन हो गया है । कांग्रेस भ्रष्टाचार और घूसखोरी पर पल रही है । कम्युनिस्टों का जब राज होगा तो उसे उखाड़कर फेंक दिया जायगा । बड़े-बड़े नेता तो शराब भी पीते हैं । कांग्रेस को जो देश मिला मिला है उस देश की बुनियाद में जाति थी, बिरादरी थी और चुनाव जीतना था । गांधी जी के वचनों की बात और थी चुनाव जीतने के लिए दूसरी चालों की जरूरत है । भगवान् महात्मा गांधी की आत्मा को शान्ति दें कि वह यह सब देखने को मौजूद नहीं रहे । इसके पीछे शहीदों का खून है, इसके पीछे एक गांधी जैसे महात्मा का बलिदान है, बहुत बड़े-बड़े आदमियों की साधना है । सबसे बड़ा फायदा यह है कि कांग्रेस की टक्कर लेने वाले लोग दूसरी पार्टियों में नहीं हैं । मन्मथनाथ गुप्त का `दो दुनियां ` (१९५३) उपन्यास में राजनीतिक भ्रष्टाचार, भाई-भतीजा-

वाद, मज़दूर आन्दोलन, पूंजीपति आन्दोलन आदि का वर्णन हुआ है । इस उपन्यास का प्रमुख पात्र विरेन्द्र है । वह स्वतन्त्रता - प्राप्ति के बाद जब देश में होने वाले भ्रष्टाचार को देखता है तो उसका मन राजनीतिक नेताओं से घृणा करने लगता है । इस उपन्यास में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् समाज में होने वाली विसंगतियों का वर्णन मिलता है । इस उपन्यास में मन्मथनाथ गुप्त ने मानव-जीवन में तेजी से बदलती हुई `आधुनिकता` पर दृष्टिपात किया है । मन्मथनाथ गुप्त `तूफान के बादल` (१९५८) नामक अपने उपन्यास में साम्प्रदायिक आन्दोलन का चित्रण करते हुए मुस्लिम लीग की स्थापना के बाद मुसलमानों द्वारा पाकिस्तान की मांग, हिन्दू मुस्लिम दंगे और देश की तत्कालिक शोचनीय हालत का वर्णन करते हैं । महात्मा गांधी की हत्या का वर्णन भी है :। इसमें समाज के मध्यमवर्गीय परिवार का चित्रण मिलता है । इसमें उपन्यासकार ने मुसलमानों की धार्मिक कट्टरता तथा विभाजन के समय हुई घटनाएं प्रस्तुत की हैं ।

डा० विश्वम्भर नाथ उपाध्याय का `पक्षधर` (१९७१) उपन्यास में बंगला देश की जनशक्ति को सम्बोधित किया गया है । लेखक का दृष्टि-कोण है कि आजादी के बाद इस तथाकथित `इलीट` में आम आदमी के घरों से अनेक लोग आए हैं । अगर जनतंत्र पर समपूर्ण श्रमिकों का अधिकार हो, यानी कारखानों से मालिक-नौकर का सम्बन्ध खत्म हो जाए, किसानों के सहयोगी फार्म बन जाएं और फार्मों, कारखानों, व्यापार-संस्थानों वगैरह की प्रतिनिधि सभाएं अपने नुमायन्दों को चुनकर संसद में भेजें, तो इस नकली जनतंत्र से क्यों पीछा नहीं छूट सकता ? इससे आम चुनावों पर से पूंजी की छाया हट जायगी । हर महत्वपूर्ण पेशे का प्रतिनिधि मिल जाएगा, जो योग्यता और ईमानदारी पर निर्भर होगा, धन और साधनों पर नहीं।

इसे इंदिरा गांधी ने भी समाजवाद जैसे पिटे हुए शब्द को इज्जत दे दी है। देश का क्या बना, क्या बिगड़ा, यह तो हम नहीं जानना चाहते, लेकिन समाजवादी बनकर अफवाह की खतरनाक गैसों से बचने के लिए एक ढक्कन मिल जाता है। लेकिन अब गड़बड़ बहुत बढ़ गई है। गुंडे और ओहदे अपनी लाग-डांट के आधार पर राजनीतिक पार्टियों में बंट गए हैं। दुकानें लुट रही हैं। लोग सभी बुझा रहे हैं। दस बाद चलते हुए। पार्टियां पेशेवर हो गई हैं। चुनाव आमदनी के साधन बन गए हैं। जनवादी शक्तियों को दबाया जाता है। थोथे नारे लगाए जाते हैं। राजनीतिक हत्याएं होती हैं। छात्रों को भड़काया जाता है। अमृतराय के तीन उपन्यासों — `बीज` (१९५२) `नागफनी का देश` और `हाथी के दांत` में भी साम्यवादी सिद्धान्तों की कट्टरता मिलती है। `नागफनी का देश` में राजनीति नहीं, प्रेम के भावात्मक रूप का चित्रण है। `हाथी के दांत` में एक सामंत के व्यंग्य-चित्र द्वारा यह दिखाया गया है कि स्वातंत्र्योत्तर भारत में कुछ बदला नहीं है। सब कुछ पुराना है। लेखक ने इस उपन्यास में बताया है कि कांग्रेस हाथी के दांत खाने के और दिखाने के और। बाहर से वे गांधीवादी हैं, खद्दर की टोपी पहनते हैं, देश सेवा का ढोंग रचते हैं, पर वे चरित्रहीन हैं। स्त्रियों को बेनकाब करते हैं। ठाकुर परदुमनसिंह के माध्यम से लेखक ने कांग्रेसी भारत का चित्र अंकित किया है।

(२)

उपन्यासकार गुरुदत्त ने अनेक उपन्यासों की रचना की, जैसे `उमड़ती घटा` (१९५४), `प्रवंचना` (१९५३), `पत्रलता` (१९५७), `दासता के नए रूप` (१९५७), `गुंठन` (१९५८), `स्वाद का मूल्य` (१९६०), `[illegible]` (१९५६), `वाममार्ग` (१९५९), `दिग्विजय` (१९५९), पाणि-

गुण्ठन ` (१९६० ), `विश्वास ` (१९६१ ), `द्रष्टा ` (१९६१), `ज़माना बदल गया', आदि । उनके उपन्यासों की संख्या ३० के लगभग है । उनके उपन्यासों में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में भारतीय सांस्कृतिक दृष्टिकोण अभिव्यक्त हुआ है । साथ ही हिन्दू राष्ट्रवादी दृष्टिकोण से भी उन्होंने जीवन की व्याख्या की है । उन्होंने हिन्दू धर्म, समाज और संस्कृति का अत्यन्त स्वस्थ रूप में प्रतिपादन किया है । उन्होंने कांग्रेसी राष्ट्रीयता या साम्यवादी सैद्धान्तिक कट्टरता के स्थान पर राजनीति को, समाज को, हिन्दू-मुस्लिम - सम्बन्धों को हिन्दू राष्ट्रवादी दृष्टि से देखा है । उनका दृष्टिकोण संकीर्ण नहीं है । उन्होंने उदार और व्यापक हिन्दू दृष्टिकोण से स्वातन्त्र्योत्तर भारत की राजनीति परखी है । हर एक हिन्दू सोचता इसी तरह है, किन्तु अपने विचार व्यक्त करने का साहस गुरुदत्त में ही है । उदाहरणार्थ यदि उनके उपन्यास `ज़माना बदल गया ` में स्वतन्त्रता-पूर्व कांग्रेस, मुस्लिम लीग, हिन्दू राष्ट्रवादी- इन तीनों के वैचारिक संघर्ष के फलस्वरूप भारत की तत्कालीन गतिविधियों का चित्रण हुआ है, तो `दासता के नए रूप ` (१९५७) में गुरुदत्त ने स्वातंत्र्योत्तर भारत के सामाजिक एवं नैतिक पतन का विश्लेषण किया है । देश के विभाजन के पश्चात् शरणार्थियों पर उछाली गई कीचड़, उनके साहस और पुरुषार्थ की अवमानना, गांधी की भारतीय मुसलमानों के प्रति सहानुभूति, किन्तु पंजाब से आए शरणार्थियों की उपेक्षा, कश्मीर पर हमला कर देने पर भी पाकिस्तान को ५५ करोड़ रुपया दिलाना आदि के रूप में कांग्रेस की दूषित नीति का उन्होंने विरोध किया है । गांधीवादी, साम्यवादी और सम्प्रदायवादी नीति का तुलनात्मक विश्लेषण करते हुए गुरुदत्त ने बताया है कि स्वातन्त्र्योत्तर भारत में कांग्रेस के हाथ में शासन की बागडोर आ जाने और राजनीतिक दासता समाप्त हो जाने पर भी देश की मानसिक दासता दूर नहीं हुई । गुरुदत्त का `देश की हत्या ` (१९५३) उपन्यास में स्वतन्त्रता के पूर्व तथा बाद

का दोनों समयों का वर्णन हुआ है । इस उपन्यास में कांग्रेस आन्दोलन, क्रान्तिकारी आन्दोलन, मुस्लिम लीग की स्थापना, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की स्थापना, साम्प्रदायिक आन्दोलन, सन् १९४२ का भारत छोड़ो आन्दोलन, असेम्बली का चुनाव, भारत-विभाजन, गांधी जी की हत्या आदि का वर्णन हुआ है । इस उपन्यास का प्रमुख पात्र चेतनानन्द है । वह गांधी जी की तरह अहिंसा में विश्वास करता है । वह अहिंसा के द्वारा ही देश में स्वराज्य-प्राप्त करना चाहता है । इस उपन्यास में देश-विभाजन के समय की दुर्घटनायें तथा समाज में होने वाले साम्प्रदायिक आन्दोलन के प्रति घृणा व्यक्त की गई है । उनके 'चि तिव' (१९७७) नामक उपन्यास में स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद का वर्णन मिलता है । इस उपन्यास में सन् १९७५) की आपात-स्थिति की दशा का वर्णन मिलता है । इस आपात-स्थिति में एक बार देश में फिर तानाशाही स्थापित हो गई थी । कांग्रेस के विरुद्ध यदि कोई आवाज उठाता था, तो उसे जेल में बन्द कर दिया जाता था । इस उपन्यास का प्रमुख पात्र बनारसीदास है । उसे कम्युनिस्ट पार्टी का होने से मीसा में बन्द कर दिया गया था । इसमें और भी अन्य पात्र हैं, सावित्री, रणवीर, विष्णुस्वरूप । इस उपन्यास से मध्यमवर्गीय परिवार के आदर्शवादी दृष्टि-कोण का परिचय प्राप्त होता है । वास्तव में गुरुदत्त के उपन्यासों में आदर्शवाद अवश्य मिलता है, किन्तु गांधीवाद के स्थान पर हिन्दू राष्ट्रवादी स्वर उनमें प्रमुख है । उन्हें रूढ़िवादी कहना उनके साथ अन्याय करना है । हिन्दू धर्म और संस्कृति को उचित परिप्रेक्ष्य में देखना कोई पाप नहीं है । उन्होंने धार्मिक और सामाजिक रूढ़ियों और अन्ध-विश्वासों से रहित हिन्दू धर्म को देखा है । वे उसे सबल dynamic रूप में देखना चाहते हैं । उन्होंने साम्प्रदायिकता का प्रचार नहीं किया और न हिन्दू - मुस्लिम वैमनस्य को बढ़ावा दिया है । यदि कम्युनिस्ट अपनी सैद्धान्तिक कट्टरता व्यक्त कर सकते हैं और गांधीवादी लोग गांधीवाद का साम्प्रदायिक रूप प्रतिपादित कर सकते हैं, तो हिन्दू धर्म को उसके झाड़-झंखाड़ वाले रूप से रहित देखना

कोई अपराध नहीं है । राष्ट्रीयता का यह अर्थ नहीं है कि हिन्दू अपने बारे में न सोचें । गुरुदत्त ने हिन्दू धर्म और भारतीयता को पर्यायवाची माना है । इस भारतीयता की धारा में कोई अन्य धर्मावलंबी भी स्नान कर सकता है । इस भारतीयता का किसी धर्म विशेष से सम्बन्ध नहीं । यह भी राष्ट्रीयता का एक रूप है । उन्होंने हिन्दू धर्म में प्रचलित अनेक मत-वादों, जैसे परलोकवाद, कर्म सिद्धान्त आदि का वैज्ञानिक दृष्टि से प्रतिपादन किया है । यह रूप वैसा ही है जैसा प्रेमचन्द कृत `रंगभूमि` की सोफ़िया ने देखा था । वैसे गुरुदत्त ने प्रेम, सेक्स आदि से उत्पन्न कुंठाओं और वर्जनाओं को भी स्थान दिया है । गुरुदत्त का हिन्दू राष्ट्रवादी दृष्टिकोण भारतीय राजनीति का प्रधान अंग तो नहीं बन पाया, किन्तु वह उसका अंग था और अब भी है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता ।

उपसंहार

संसार के सभी देशों के इतिहास राजनीति से आक्रान्त रहे हैं और हैं । मानव जीवन का मर्म समझने में राजनीति समर्थ रही है या नहीं, यह कहना कठिन है । किन्तु इतना निश्चित है कि उसकी गति सांप की तरह कुटिल, अस्थिर और विद्युत की भाँति चकाचौंध पैदा करने वाली और चंचल रहती है । शोध-प्रबन्ध के छः अध्यायों में स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में उपलब्ध रूसी राजनीति के सन्दर्भों का विश्लेषण विस्तार पूर्वक किया गया है ।

प्रत्येक अध्याय में उपन्यासों पर आधारित पीठिका और निष्कर्ष तथा संभावनाओं का निर्देश करना उद्देश्य रहा है । अब पिछले अध्यायों में प्राप्त सूत्रों को एक साथ रखकर उनका मूल्यांकन करना अभीष्ट है ।

शोध प्रबन्ध में `राजनीति` से तात्पर्य १६ वीं शताब्दी के बाद की राजनीति से है --अर्थात् प्राचीन और मध्ययुगीन राजनीति से नहीं । रांगेय राघव, हजारीप्रसाद द्विवेदी, भगवतीचरण वर्मा (`चित्रलेखा`), राहुल सांकृत्यायन, वृन्दावनलाल वर्मा, यशपाल, (`दिव्या`, `अमिता`) आदि के कुछ उपन्यासों में प्राचीन और मध्ययुगीन राजनीति का उल्लेख हुआ है । इसलिए ऐसे उपन्यासों का केवल प्रसंगवश उल्लेख कर दिया गया है ।

गद्य के माध्यम से उपन्यास जीवन और जगत् की विशिष्ट रीति से सोद्देश्य अभिव्यक्ति करता है । यह यथार्थ का आधार लेकर मानव-जीवन का अन्वय कर बताता है कि मनुष्य के मन और सामाजिक सम्बन्धों की क्या स्थिति है । संसार में जब तक मानव-जीवन का अस्तित्व है तब तक उपन्यास

का महत्व अक्षुण्ण बना रहेगा । और, जब तक मानव-जीवन है तब तक उसके विविध आयामों में से एक आयाम राजनीति भी उसका अभिन्न अंग बनी रहेगी —विशेषत: आधुनिक काल में । प्राचीन समय में राजनीति राजन्य वर्ग तक सीमित रहती थी । वर्तमान समय में वह सामान्य जीवन तक में प्रवेश कर गई है । इसीलिए उपन्यासकार की रचनाएं भी उससे अछूती नहीं रहीं ।

स्वातन्त्र्योत्तर काल में हिन्दी उपन्यासकारों की एक लम्बी कतार है जिनमें से कुछ ने अच्छी ख्याति प्राप्त कर ली है, जैसे जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, `अज्ञेय`, भगवतीचरण वर्मा, यशपाल, अमृतलाल नागर, मोहन राकेश, धर्मवीर भारती (सूरज का सातवां घोड़ा) राजेन्द्र-यादव, मन्नू भंडारी, आदि । किन्तु स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद के अधिकतर उपन्यासकारों ने विज्ञान-जनित यांत्रिकता से पिसे मानव-जीवन की विसंगतियों, टूटते हुए व्यक्ति, आस्थाविहीन समाज, सेक्सजनित कुण्ठा और स्त्री-पुरुष के नए सम्बन्धों आदि को अभिव्यक्ति प्रदान की है । इनमें से अनेक लेखकों की कृतियों में प्रसंगवश राजनीतिक सन्दर्भ अवश्य मिल जाते हैं, किन्तु उनमें राजनीति पर अधिक बल दिया हुआ नहीं मिलता । आधुनिकता-बोध की दृष्टि से वे अधिक पठनीय हैं ।

जैसा कि पहले अध्याय में कहा जा चुका है, आज उपन्यास को किसी निश्चित परिभाषा में बांधना मुश्किल है —विशेष रूप से अब जब प्रयोगशील हो गया है जो आज के जटिल जीवन को देखते हुए स्वाभाविक है । आज जब समाज बिखर चुका हो तब तो उसका संश्लिष्ट रूप उपन्यास में सम्भव नहीं हो सकता । स्वतन्त्रता के बाद तो मोहभंग की स्थिति ने उसे जीवन से जूझने पर मजबूर कर दिया है । आज के जीवन की

चुनौती जहाँ उसने संवेदना के स्तर पर (नरेश मेहता कृत 'यह पथ बंधु था'), वैचारिक स्तर पर (यशपाल कृत 'झूठा सच'), व्यष्टिसत्य के स्तर पर (लक्ष्मीनारायण लाल कृत ('रूपाजीवा') समष्टि सत्य के स्तर पर (रांगेय राघव कृत 'कब तक पुकारूँ') स्वीकार की है, वहाँ राजनीतिक स्तर पर भी की है ।

हिन्दी उपन्यास अब शतायु से भी अधिक हो चुका है । साहित्य की इस विधा का जन्म उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में सुधारवादी आन्दोलनों और शिक्षित मध्यमवर्ग की चेतना के फलस्वरूप हुआ[1] जिसकी अन्तिम परिणति प्रेमचन्द कृत 'गोदान' और जैनेन्द्रकुमार कृत 'सुनीता' (१९३५) तथा 'त्यागपत्र' (१९३७) में दृष्टिगोचर होती है । इन उपन्यासों में सामाजिक स्तर पर तथा नारी की कल्पना के रूप में आधुनिकता की प्रक्रिया गतिशील होती हुई दृष्टिगोचर होती है और यथार्थ का एक नया आयाम विवृत होता हुआ दिखाई देता है । इन उपन्यासों से हिन्दी उपन्यास-साहित्य की नई सामाजिक और मनोवैज्ञानिक परम्परा का जन्म हुआ माना जा सकता है जो उसे पिछले उपन्यास-साहित्य से अलग करती और आधुनिकता से जोड़ती है । उसकी आधुनिकता विभिन्न स्तरों की है । प्रत्येक लेखक ने आधुनिकता को अपने-अपने वैचारिक धरातल पर आंका है । आधुनिकता की दृष्टि से एक वर्ग तो ऐसे उपन्यासों का है (जैसे रेणु कृत 'मैला आंचल', यशपाल कृत 'झूठा सच', अमृतलाल नागर कृत 'बूँद और समुद्र' आदि) जिनमें आधुनिकता की चुनौती सामाजिक स्तर पर स्वीकार की गई है । दूसरा वर्ग उन उपन्यासों का है (जैसे जैनेन्द्र कृत 'सुनीता', 'अज्ञेय' कृत 'शेखर एक जीवनी' आदि) जिनमें यह चुनौती व्यक्ति-सत्य के स्तर पर स्वीकार की गई है । दोनों वर्गों में पुराने-नए मूल्यों की चर्चा की गई है ।

---

१. डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : 'आधुनिक साहित्य' (१८५०-१९००) 'उपन्यास' शीर्षक अध्याय ।

स्वातन्त्र्योत्तर उपन्यासों का अध्ययन करने के उपरान्त एक निष्कर्ष यह निकलता है कि स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद के राजनीतिक उपन्यासों की या राजनीतिक सूत्रों से संश्लिष्ट उपन्यासों की धारा प्रवाहित तो रही है, किन्तु वह निरन्तर क्षीण होती गई है। आज का उपन्यास-लेखक अपने परिवेश के प्रति अपने पूर्ववर्ती लेखक की अपेक्षा अधिक जागरूक अवश्य है, किन्तु एक तो वह सक्रिय मतवादी राजनीति से बहुत अधिक सम्पृक्त नहीं है, दूसरे व्यक्ति के मन की गहराई में उतरने, उसकी परतें खोलने, बदलते हुए मानव - मूल्यों के परीक्षण- विश्लेषण और नैतिकता की ओर उसकी दृष्टि अधिक केन्द्रित हो गई है। उसने आज के पुरुष और नारी के नए रूप उभारे हैं। उनका मनोविज्ञान टटोला है। उसकी कृतियों में नारी और सेक्स की समस्याओं का अन्तर्भाव है, अन्तर्मन और अन्तर्द्वन्द्व की झाँकियां हैं। आज के मानव-संकट, बिखराव, आज की विसंगतियों में ऐसा होना अस्वाभाविक नहीं है। लेखक अपनी अनुभूति की तीव्र संवेदनशीलता को अभिव्यक्ति प्रदान करने में अधिक आकुल है। सम्भवत: उसकी बौद्धिकता या वैचारिक धरातल पर राजनीति के सम्बन्ध में सोचने-समझने की क्षमता उसे स्वातन्त्र्योत्तर भ्रष्ट राजनीति में घुलमिल जाने के लिए वर्जित करती है। वैसे भी आज के संक्रान्तिकालीन उपन्यास में जीवन की विविधता को, उसकी समग्रता को, देखपाना सरल कार्य नहीं है। तब भी निरन्तर परिवर्तनशील जीवन से जुड़े होने के कारण वह जीवन की विषमताओं और अन्तर्विरोधों का चित्रण करने के लिए, उपन्यासकार होने के नाते, अपने दायित्व का निर्वाह करने के लिए बाध्य है। निस्सन्देह जब सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक परिस्थितियाँ बदल रही हैं, मूल्य और आदर्श बदल रहे हैं, उपन्यास से अधिक सशक्त माध्यम दूसरा नहीं। स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद के उपन्यास-लेखक की एक बुनियादी कठिनाई यह है कि वह टूटते-

बिखरते जीवन के अत्यधिक निकट है । इसलिए उसका वास्तविक रूप सही-सही परिप्रेक्ष्य में आंकने में वह अपनी धारणाओं, विश्वासों और पूर्वाग्रहों में बंध जाता है और कोई एक साधारण, सरलीकृत समाधान निकाल लेता है । हिन्दी के अधिकांश उपन्यासकार इस विषम वृत्त से मुक्त होने में असमर्थ रहे हैं ।

१९३६ (प्रेमचन्द की मृत्यु) के बाद हिन्दी के उपन्यास-साहित्य में समाजोन्मुख यथार्थ और यथार्थ की पृष्ठभूमि में मानव-चरित्र के विश्लेषण की दृष्टि से मनोविज्ञान का सहारा लिया जाने लगा । राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, भगवतीचरण वर्मा, जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, `अज्ञेय` आदि उपन्यासकार यथार्थ की गहराई में उतरे और युगीन चेतना को अभिव्यक्ति प्रदान की । उसमें विस्तार और गहराई दोनों है । यह चेतना राजनीतिक चेतना के रूप में भी है । स्वतन्त्रता-पूर्व उपन्यास-साहित्य की मूल संवेदना जागृतिमूलक, राजनीतिक और सांस्कृतिक है । उसमें गांधीवादी प्रभाव और समन्वय की प्रवृत्ति मिलती है । आदर्शहीन और असामाजिक तत्त्वों को स्थान देते हुए भी स्वातन्त्र्य-पूर्व उपन्यासों की जीवन-दृष्टि में मानवतावाद है । प्रेमचन्द, भगवतीचरण वर्मा, उपेन्द्रनाथ `अश्क`, अमृतलाल नागर, यशपाल आदि के साथ राजनीतिक चेतना धीरे-धीरे मिली रही । राजनीतिक भूमि पर यशपाल, रांगेय राघव, नागार्जुन तथा उनके सम्प्रदाय के अन्य लेखकों ने मार्क्सवादी वर्गीय दृष्टि दी और समाजवादी यथार्थवाद की पृष्ठभूमि प्रस्तुत की । उसमें वर्गगत चेतना प्रमुख है । वास्तव में १९३६ के बाद के उपन्यासों में समष्टिगत चेतना अधिक मिलती है । एक ओर यह चेतना गांधीवादी है, और दूसरी ओर वह कम्युनिस्ट चेतना है जिसने अन्य सभी चेतनाओं पर छा जाने की असफल चेष्टा की । साथ ही उसमें भारत-विभाजन और उसके बाद के राजनीतिक जीवन की प्रत्यक्ष या परोक्ष दृष्टि उभरी । इन सभी उपन्यासों में छूटे पड़ गए जीवन-मूल्यों के प्रति मोहभंग तो है ही, बुद्धिजीवियों का

गिरता हुआ स्तर तो है ही, साथ उनमें झूठे मुखौटों, झूठे समाजवाद के नारों, अफसरी योजनाओं, भ्रष्टाचार आदि को राजनीतिक सन्दर्भ में पकड़ने की क्षमता है । आंचलिक उपन्यासों में भी यही प्रवृत्ति दृष्टि-गोचर होती है । स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में राजनीतिक सन्दर्भों के मूल स्रोत प्राचीन या मध्ययुगीन इतिहास, १८५७ का विद्रोह और उसके बाद की सरकारी दमननीति, बंग-भंग आन्दोलन, कांग्रेस और उसके दक्षिण एवं वामपंथी या नरमदल और गरमदल का परस्पर राजनीतिक संघर्ष, होमरूल आन्दोलन, गांधी जी के नेतृत्व में राष्ट्रीय सत्याग्रह आन्दोलन और स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए संघर्ष, अंग्रेजों की कूट-नीति, किसान आन्दोलन, लगान-बंदी आन्दोलन, हिन्दू राष्ट्रवादी दृष्टिकोण, मुस्लिम लीग और हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिक संघर्ष, द्वितीय महायुद्ध के समय की राजनीति,१९४२ की क्रान्ति और `भारत छोड़ो आन्दोलन` या करो या मरो` आन्दोलन, भारत-विभाजन और तज्जनित भीषण-नर-संहार, गांधी जी की हत्या, स्वातन्त्र्योत्तर भ्रष्ट राजनीति आदि रहे हैं । विचार-धारा की दृष्टि से हिन्दी उपन्यासों में या तो विशुद्ध राष्ट्रीय विचार-धारा ( इसके लिए प्राय: `दक्षिण-पंथी विचारधारा` का प्रयोग किया जाता है । किन्तु इस शब्द का प्रयोग जानबूझ कर नहीं किया गया, क्योंकि इसमें प्रतिक्रियावाद, पूंजीवाद के साथ गठबन्धन, साम्प्रदायिकता आदि की गन्ध आती है । विशुद्ध राष्ट्रीय भावना या देश-प्रेम से ओत-प्रोत प्रत्येक व्यक्ति ऐसा हो, यह आवश्यक नहीं है) और वामपंथी विचारधारा । स्वयं कांग्रेस में स्व० जयप्रकाश नारायण का `सोशलिस्ट ग्रुप` था । कांग्रेस के बाहर समाजवादी और कम्युनिस्ट विचारधारा थी जिससे प्रभावित होकर कुछ राजनीतिक नेता रूस के बारे में पढ़ने के अलावा राजनीति में आर्थिक पक्ष पर अधिक बल देते थे । समाजवाद का नारा

लगता ही रहता है । इन के अतिरिक्त हिन्दू महासभा की विचारधारा थी । अंग्रेजी राज्य में मुस्लिम साम्प्रदायिक मनोवृत्ति को खूब फूलने-फलने का मौका मिला । स्वतंत्र-भारत में ये सभी प्रमुख विचारधाराएं हैं --यहां यहां तक कि मुस्लिम लीग का अस्तित्व भी बना हुआ है और हिन्दू-मुस्लिम दंगे स्वतन्त्र-भारत में भी होते रहते हैं । वास्तव में विभाजन के बाद भारत की हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिक समस्या सुलझने के बजाय उलझती जा रही है --जब कि मुसलमानों को अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए अरब देशों से अपार धन मिल रहा है । वोट की राजनीति का अनुसरण करने के कारण राजनीतिक नेताओं का उन्हें गलत-सही सब जगह का संरक्षण प्राप्त होता रहता है । अनेक उपन्यास -लेखक वर्तमान समाज की दुरवस्था का मूल कारण राजनीति को समझते हैं क्योंकि आज का नेता वर्ग-विभाजन का आश्रय ग्रहण कर समाज में भेद-भाव उत्पन्न करता है । चुनाव के समय ठाकुर, ब्राह्मण, कायस्थ, वैश्य, मुसलमान, हरिजन, यादव, कुर्मी या परिगणित जातियों आदि को दृष्टिपथ में रखते हुए उम्मीदवार चुने जाते हैं और जिस हलके में जिस जाति के लोग अधिक रहते हैं उसमें उसी जाति का उम्मीदवार खड़ा किया जाता है --यह सब धर्म निरपेक्ष राज्य में !!!शोषण-आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक या अन्य किसी प्रकार -- के विरुद्ध सभी उपन्यासकारों ने आवाज़ उठाई है । भारत की पराधीनता, उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद, सामंतवाद, पूंजीवाद के प्रति उन्होंने अपना विरोध व्यक्त कर अपनी प्रगतिशीलता का परिचय दिया है । गांधी जी के सत्य-अहिंसा में किसी को पूर्ण विश्वास है, किसी को उसकी सफलता के प्रति सन्देह है ।

स्वातन्त्र्योत्तर उपन्यासों के अध्ययन से यह भी निष्कर्ष निकलता है कि स्वतन्त्रता-पूर्व भारत में ब्रिटिश सरकार और मुस्लिम लीग के अतिरिक्त

कांग्रेस प्रमुख राजनीतिक संस्था थी । उस समय कांग्रेस गांधीवादी आदर्शपूर्ण राजनीति का अनुसरण करते हुए रामराज्य का स्वप्न देख रही थी । १९४७ ई० में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद गांधी जी ने कांग्रेस को भंग कर देने के लिए कहा था, किन्तु ऐसा नहीं हुआ और स्वतन्त्र-भारत में कांग्रेस प्रमुख राजनीतिक दल बनी रही । जिस कांग्रेस की स्थापना १८८५ ई० में हुई थी और जिसने स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए सतत संघर्ष किया, उसने स्वतन्त्र-भारत के शासन की बागडोर संभाली । पंडित जवाहरलाल नेहरू भारत के प्रथम प्रधानमंत्री बने । उन्हीं के समय में कांग्रेस संगठन में दरारें पड़ने लगी थीं । पट्टाभि सीता रमैय्या ने अपने 'कांग्रेस का इतिहास' में कांग्रेस की राजनीतिक गतिविधियों का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है । कांग्रेस में गांधी जी की विचारधारा के अतिरिक्त अन्य विचारधाराएं भी थीं जिनमें कभी-कभी परस्पर संघर्ष हो जाया करता था (सुभाषचन्द्र बोस की विचारधारा इसका एक ज्वलंत उदाहरण है) । यही कारण है कि वह स्वतन्त्र-भारत में खण्ड-खण्ड हो गई है और अब राष्ट्रीय संस्था न रहकर किसी-न-किसी एक व्यक्ति के साथ सम्बद्ध हो गई है --उदाहरण के लिए आज कांग्रेस (आई), कांग्रेस (जे), कांग्रेस (अर्स), कांग्रेस (एस) जैसी कांग्रेसें हैं अर्थात् स्वतन्त्रता-पूर्व एकता के सूत्र में बंधी कांग्रेस जैसी एकमात्र राष्ट्रीय संस्था नहीं है । इन विभिन्न कांग्रेसों में तो राजनीति और कूटनीति चलती ही रहती है, किन्तु उन दलों के साथ भी राजनीति बरती जाती है जिनकी स्थापना उन नेताओं द्वारा हुई है जो पहले कांग्रेस (आई०) में थे, कांग्रेस के मंत्रिमण्डलों में थे, किन्तु अब किसी-न-किसी लोलुपता के वशीभूत होकर कांग्रेस से अलग हो गए हैं । इन दलों के अतिरिक्त स्वतंत्र-भारत में जनता पार्टी, जनसंघ (अब भारतीय जनता पार्टी) लोकदल, कम्युनिस्ट पार्टी तथा अन्य अनेक छोटे-छोटे राजनीतिक दल (जिनकी देश की राजनीति

में कोई महत्वपूर्ण भूमिका नहीं है) जैसे अनेक विरोधी दल भी हैं । उनकी अलग-अलग नीतियाँ हैं और वे कांग्रेस (आई०) सत्ताधारी दल के विरोधी हैं । वैसे तो कई राज्यों में गैर कांग्रेस (इ) सरकारें हैं, किन्तु १९७७ में कांग्रेस (इ) सरकार के स्थान पर जनता पार्टी ने अपना मंत्रिमण्डल बनाया था, किन्तु इस मंत्रिमण्डल की परस्पर कलह और फूट के कारण १९८० में फिर कांग्रेस (इ) ने केन्द्र में अपनी सत्ता स्थापित कर ली । प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध लिखते समय केन्द्रीय सरकार इसी दल के हाथ में है ।

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है कि साहित्यकार सम्वेदनशील प्राणी होता है, वह समाज में रहता है । आज समाज में राजनीति की जड़ें बहुत गहरी हो गई हैं । इसलिए साहित्यकार भी वर्तमान राजनीतिक गतिविधियों से असम्पृक्त नहीं रहा । क्योंकि उपन्यास (और कहानी) का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है इसलिए उनमें राजनीति का उल्लेख होना स्वाभाविक है ।

उपन्यासकार ने अनुभूतिपरक एवं समाजसापेक्ष दृष्टि से मनुष्य को उसके विराट एवं यथार्थ परिवेश में देखने समझने का नया प्रयत्न किया, उसमें एक नई मूल्यपरक दृष्टि का विकास हुआ । देश को जहाँ एक ओर मुक्ति प्राप्त हुई, वहाँ दूसरी ओर आर्थिक वैषम्य, राजनीतिक विघटन मूल्यों का पराभव, बढ़ती हुई कीमतें, भ्रष्टाचार और नैतिक पतन, चारित्रिक संकट एवं आत्मविश्वासहीन सन्दर्भों ने उसे उस सीमा तक विवश कर दिया कि भविष्य के प्रति उसके मन में कोई आशा शेष न रही । यह एक मोहभंग की स्थिति है जिसमें सबसे बड़ा योगदान देश के विभाजन का रहा है । जनतंत्र में झूठे समाजवाद के नारों के बीच उपन्यासकार ने राजनीतिक नेताओं को उत्तरदायी ठहराया है ।

भारत की सभी स्वातन्त्र्योत्तर राजनीति को दृष्टिपथ में रखते हुए उपन्यासों का अध्ययन किया गया है। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है कि स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद हिन्दी का उपन्यास-साहित्य काफी समृद्ध हुआ है और उसमें सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, स्त्री-पुरुष सम्बन्ध, हरिजन समस्या आदि पर प्रकाश तो डाला ही गया है, साथ ही उसमें वर्तमान राजनीति पर प्रकाश डालने वाले उपन्यासों में अधिकतर नेताओं के झूठे मुखौटों, भ्रष्टाचार और उसके फलस्वरूप आर्थिक विषमता, दलबदल राजनीति आदि के सन्दर्भ में अनेक संकेत मिलते हैं। इस समय जो राजनीतिक विचारधाराएं प्रचलित हैं उनमें कांग्रेस की परस्पर कलह और फूट वाली राजनीति, समाजवादी या साम्यवादी राजनीति, किसान-मजदूरों के आन्दोलन, भारत-चीन संघर्ष, कश्मीर समस्या आदि और सर्वोपरि नेताओं की स्वार्थपरता और उनका भ्रष्टाचार विशेष रूप से चित्रित हुआ है। गांधी जी की दुहाई सब देते हैं किन्तु गांधी जी मर गए उनके साथ उनका आदर्श भी मर गया। प्रस्तुत प्रबन्ध में इन्हीं विषयों को लेकर स्वातन्त्र्योत्तर उपन्यासों पर विचार किया गया है। इस उपन्यास-साहित्य में राजनीतिक सन्दर्भ आए बिना नहीं रह सके। प्रत्येक लेखक ने अपने व्यक्तिवादी राजनीतिक लाभ की दृष्टि से राजनीति की चर्चा की है। व्यक्तिवादी धारणा ने स्वतन्त्र-भारत में व्यक्तिगत स्वार्थों तथा व्यक्तियों से सम्बद्ध राजनीतिक दलों के स्वार्थों को उत्पन्न कर जीवन में स्वार्थपूर्ण भ्रष्टाचार को जन्म दिया है। देश की वर्तमान राजनीति सामाजिक और और आर्थिक जीवन से भी सम्बद्ध है, क्योंकि राजनीति समाज का ही यथार्थ अंग है। आज साहित्य का कोई भी अंग राजनीतिक परिस्थितियों से अछूता नहीं रह सका है। राजनीति से सम्बद्ध होते हुए भी यह साहित्य मानव-मूल्य से असम्पृक्त नहीं है।

राजनीति स्थूल यथार्थवाद है जो कलाकार या लेखक के मन से छनकर साहित्य में आता है । राजनीतिक एक व्यक्ति को अध्यापक, वकील, दुकानदार, पूंजीपति, किसान मज़दूर आदि के रूप में देखता है । राजनीति तात्कालिक होती है और साहित्य चिरस्थायी ।

परिशिष्ट

क्रमसंख्या	लेखक	कृति	सन्	प्रकाशक
१	अमृतलाल नागर	चैतन्य महाप्रभु	१९७४	लोक भारती प्रकाशन १५ ए, महात्मागांधी मार्ग, इलाहाबाद
२.	,,	मानस का हंस	१९७२	प्र०सं०राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली
३.	,,	भूख	१९७०	,, ,,
४.	,,	गदर के फूल	१९५७	लखनऊ, सूचना विभाग
५.	,,,,	सुहाग के नूपुर	१९६०	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
६.	,,	बूंद और समुद्र	१९७३	प्रयाग किताब महल, इलाहाबाद
७.	,,	युगावतार	१९७३	प्र०सं०राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली
८.	,,	सिकन्दरहार गया	१९७३	,, ,,
९.	,,	शतरंज के मोहरे	१९५९	काशी भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी
१०.	,,	सात घूंघट वाला मुखड़ा	१९६८	प्र०सं० राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली
११.	अमृतराय	कलम का सिपाही	१९६२	हंस प्रकाशन, इलाहाबाद
१२.	,,	धुआं	१९७०	,, ,,
१३.	,,	बीज	१९५३	,, ,,
१४.	,,	सुख-दु:ख	१९६१	,, ,,
१५.	,,	भटियाली	१९६६	,, ,,
१६.	,,	कंगल	१९६६	,, ,,
१७.	अनन्तकुमार सेवड़े	कोरा कागज	१९७१	राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली
१८.	,,	इन्द्रधनुष	१९६६	कोरा एण्ड कम्पनी, इलाहाबाद
१९.	अनन्तगोपाल शेवड़े	तीसरी भूख	१९५५	नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद
२०.	,,	ज्वालामुखी	१९५६	,, ,,

क्रमसंख्या	लेखक	कृति	प्रकाशन तिथि	प्रकाशक
२१,	अनन्त गोपाल शेवड़े	भग्नमन्दिर	१९६०	राजपालएण्डसन्स, दिल्ली
२२,	आनन्दप्रकाश जैन	कुणाल की आँखें	१९६७	राजपाल एण्डसन्स, दिल्ली
२३,	,,	तांबे के पैसे	१९७१	प्र०सं० दिल्ली
२४,	,,	भांवर	१९६६	राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली
२५,	,,	आग और फूल	१९५७	मेरठ प्रकाशक
२६,	,,	तीसरा नेत्र	१९५७	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
२७,	अनूपलाल मंडल	अभियान का पथ	१९५६	कार्यालय, पटना
१८,	,,	तूफान और तिनके	१९६०	साहित्यकला मन्दिर, कुरसेला
२९,	अख्तर बाकरी	विद्रोही	१९६०	उषा प्रकाशन, दिल्ली
३०,	अमृता प्रीतम	पिंजर	१९५२	प्रोग्रेसिव पब्लिशर्स, नयी दिल्ली
३१,	अरुण साधु	निशुंक	१९८१	राधाकृष्ण प्रकाशन, ,,
३२,	इलाचन्द्र जोशी	ऋतुचक्र	१९६८	लोकभारती प्रकाशन
३३,	,,	धूपलता	१९५५	राजकुमार प्रेस, लखनऊ
३४,	,,	लज्जा	१९५२	भारतीय भंडार, इलाहाबाद
३५,	,,	आहुति	१९४८	नेशनल इन्फार्मेशन, बम्बई
३६,	,,	मुक्तिपथ	१९५०	इन्द्रचन्द्र नारंग, हिन्दी भवन, ३१२ रानी मंडी, इलाहाबाद
३७,	,,	जिप्सी	१९५२	सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद
३८,	,,	जहाज का पंछी	१९५५	लोक भारती प्रकाशन
३९,	,,	भूत का भविष्य	१९७३	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
४०,	उपेन्द्रनाथ अश्क	संघर्ष का सत्य	१९५७	नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद
४१,	,,	एक नन्ही किन्दील	१९६९	,, ,,
४२,	,,	गर्म राख	१९५२	,, ,,
४३	,,	सितारों के खेल	१९५६	,, ,,
४४,	,,	पत्थर अल पत्थर	१९५७	,, ,,

क्रमसंख्या	लेखक	कृति	प्रकाशन तिथि	प्रकाशक
४५.	उपेन्द्रनाथ अश्क	बड़ी-बड़ी आँखें	१९५४	नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद
४६.	,,	शहर में घूमता आइना	१९६३	,, ,,
४७.	उदयशंकर भट्ट	शेष अशेष	१९६०	भारतीय साहित्य मन्दिर दिल्ली
४८	,,	सागर लहरें और मनुष्य	१९५१	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
४९	,,	दो अध्याय	१९६२	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
५०	उषा प्रियंवदा	पचपन खम्भे लाल दीवारें	१९६१	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
५१.	,,	रुकोगी नहीं राधिका	१९६७	प्र०सं०अक्षर प्रकाशन, प्रा०लि० दिल्ली
५२.	उषादेवी मित्रा	नष्टनीड़	१९५५	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
५३.	उमाकान्त मालवीय	ममता	१९७५	विभा प्रकाशन गृह, इलाहाबाद
५४.	उषा बाला	कुर्सी का नशा	१९७८	प्रभात प्रकाशन, २०५ चावड़ी बाजार, दिल्ली, ११०००६
५५.	ऋषभचरण जैन	गदर	१९५२	ज्ञान पब्लिकेशन्स
५६.	,,	सत्याग्रह	१९५३	ज्ञान प्रकाशन, दिल्ली
५७.	कमल शुक्ला	भाप और धुआँ	१९६६	सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली
५८	,,	बदली का चाँद	१९७४	,, ,,
५९.	,,	एक गाँव दो ठाँव	१९७३	संचालक भारतीय ग्रन्थमाला, पुरा नवाब पार्क, अमीनाबाद, लखनऊ
६०.	,,	बदली बयार	१९७३	संजीव प्रकाशन, दिल्ली
६१.	,,	कांटे धागे और जिन्दगी	१९६७	भारतीय ग्रन्थमाला, लखनऊ

क्रमसंख्या	लेखक	कृति	प्रकाशन तिथि	प्रकाशक
६२.	कमल शुक्ला	मंजिल से पहले	१९७३	भारतीय ग्रन्थमाला प्रकाशन, लखनऊ
६३.	,,	इन्सान जाग उठा	१९५८	हिन्दी प्रकाशन, वाराणसी
६४	कमलेश्वर	तीसरा आदमी	१९६४	राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली
६५.	,,	एक सड़क सत्तावन गलियां	१९६१	,, ,,
६६.	,,	लौटे हुए मुसाफिर	१९६३	ज्ञान भारतीय बम्बई
६७.	,,	सुबह, दोपहर, शाम	१९८२	राजपाल एण्ड सन्स, काश्मीरी गेट, दिल्ली
६८.	,,	डाक बंगला	१९६१	राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली
६९.	काश्मीरी लाल ज़ाकिर	लहू पुकारता है	१९७०	सरस्वती विहार, २१ दरियागंज, दिल्ली
७०.	कामतानाथ	एक और हिन्दुस्तान	,,	स्वत्वाधिकार के०एल०मलिक एण्ड संस प्रा०लि०ने०पब्लि० हाउस नयी दिल्ली
७१.	गुरुदत्त	जागृति	१९६६	राजपाल एण्ड संस, दिल्ली
७२.	,,	[illegible]	१९७०	२१ दरियागंज, दयानन्दमार्ग, नयी दिल्ली
७३.	,,	स्वराज्यदान	१९४८	विद्यामन्दिर लिमिटेड
७४.	,,	सफलता के चरण	१९६६	ओरियन्टल बुक डिपो
७५.	,,	[illegible]	१९५७	मकरन्द प्रकाशन, नयी दिल्ली
७६.	,,	गुण्ठन	१९५५	भारतीय साहित्य सभा, दिल्ली
७७.	,,	दासता के नए रूप	१९५५	,, ,,

क्रमसंख्या	लेखक	कृति	प्रकाशन तिथि	प्रकाशक
७८.	गुरुदत्त	गिरते महल	१९६६	राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली
७९.	,,	देश की हत्या	१९५३	भारतीय साहित्य सभा, नयी दिल्ली
८०.	,,	एक एक सपना	१९७०	राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली
८१.	,,	धूपछाँव	१९६८	,, ,,
८२.	,,	भावुकता का मूल्य	१९५०	विद्या मन्दिर प्रकाशन, नयी दिल्ली
८३.	,,	बीती बात	१९५६	ज्योत्सना प्रकाशन, दिल्ली
८४.	,,	विलोम गति	१९५४	भारतीय साहित्य सभा दिल्ली
८५.	,,	विश्वासघात	१९५१	,, ,,
८६.	गिरिराज किशोर	लोग	१९६६	वोरा एण्ड कम्पनी
८७.	,,	चिड़ियाघर	१९६८	अक्षर प्रकाशन, दिल्ली
८८.	,,	यात्राएं	१९७१	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
८९.	,,	लहू पुकारेगा	१९६३	नवभारती प्रकाशन
९०.	,,	दो	१९७४	राजकमल सम्भावना प्रकाशन, दिल्ली
९१.	गंगाप्रसाद विमल	मरीचिका	१९६३	राजकमल एण्ड संस, दिल्ली
९२.	आचार्य चतुरसेनशास्त्री	नीली आँखें	१९७३	प्रभात प्रकाशन, दिल्ली
९३.	,,	उखड़ी हुई दिवार	१९७६	,, ,,
९४.	,,	मोती	१९६१	राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली
९५.	,,	सोना और खून	१९६०	राजवंश प्रकाशन
९६.	,,	आलमगीर	१९५४	राजा प्रकाशन, दिल्ली
९७.	,,	हृदय की प्यास	१९५९	गंगा ग्रन्थ० , लखनऊ
९८.	,,	धर्मपुत्र	१९५४	ज्ञानधाम प्रतियोगिता
९९.	,,	रक्त की प्यास	१९५२	चौधरी एण्ड संस , बनारस

क्रमसंख्या	लेखक	कृति	प्रकाशन तिथि	प्रकाशक
१००.	जैनेन्द्र	विवर्त	१९५३	पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली
१०१.	,,	प्रीतिविद्ध	-	हिन्दी पाकेटबुक्स, दिल्ली
१०२.	,,	अनन्तर	१९६८	पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली
१०३.	,,	सुखदा	१९५२	,, ,,
१०४.	,,	जयवर्धन	१९५६	राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली
१०५.	,,	व्यतीत	१९५३	पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली
१०६.	जानकीवल्लभ शास्त्री	एक किरण सौ झाइयाँ	१९६८	राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली
१०७.	जगदीशचन्द्र	यादों के पहाड़	१९६६	नेश०पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
१०७।अ	देवेन्द्र सत्यार्थी	ब्रह्मपुत्र	१९५६	नेश०पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
१०८.	,,	कथा कहो उर्वशी	१९६१	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
१०९.	,,	रथ के पहिए	१९५३	एशिया प्रकाशन, नई दिल्ली
११०.	,,	दूध गाछ	१९५८	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
१११.	,,	कठपुतली	१९५४	एशिया प्रकाशन, नयी दिल्ली
११२.	डा० देवराज	भीतर का घाव	१९७०	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
११३.	,,	मैं वे और आप	१९६६	,, ,,
११४.	देवीदयाल चतुर्वेदी	संकल्प	१९६८	कलका प्रकाशन, इलाहाबाद
११५.	दुष्यन्त	आंगन में एक वृक्ष	१९६९	राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली
११६.	धर्मवीर भारती	सूरज का सातवां घोड़ा	१९५२	प्रयाग साहित्य
११७.				
११८.	,,	ईश्वर विमाता	१९५८	भारती प्रेस, प्रकाशन, प्रयाग
११९.	,,	देशान्तर	१९६०	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
१२०.	,,	गुनाहों का देवता	१९४९	साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग

क्रमसंख्या	लेखक	कृति	प्रकाशन तिथि	प्रकाशक
१२०,	नागार्जुन	नई पौध	१९५३	किताब महल, प्रयाग
१२१,	..	रतिनाथ की चाची	१९४८	.. ..
१२२,	..	वरुण के बेटे	१९५७	.. ..
१२३,	..	चित्रा	१९५१	.. ..
१२४,	..	हीरक जयन्ती और उग्रतारा	१९६३	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
	प्रथम			
१२५	.. ..	बलचनमा	१९५२	किताब महल, प्रयाग
१२६,	.. ..	भस्मांकुर	१९७०	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
१२६	.. ..	बाबा बटेसरनाथ	१९५४	.. ..
१२७	.. नरेश मेहता	डूबते मस्तूल	१९५४	आत्माराम एण्ड संन्स, दिल्ली
१२८,	.. ..	यह पथ बन्धु था	१९६२	हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर प्राइवेट लिमिटेड, गिरगांव, बम्बई
१२९,	.. ..	नदी यशस्वी	१९६७	प्र०स० दिल्ली
१३०,	.. निर्मल वर्मा	वे दिन	-	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
१३१,	.. प्रतापनारायण श्रीवास्तव	बेकसी के मजार	१९५७	भारतीय प्रतिष्ठान, कानपुर
१३२,	.. ..	विकास	२०००संवत्	राष्ट्रीय प्रकाशन मण्डल, पटना
१३३,	.. निर्मला वाजपेयी	धुवा देवता	१९७१	राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली
१३४,	.. प्रभाकर माचवे	सांचा	१९५५	नव साहित्य प्रकाशन, नई दिल्ली
१३५,	.. ..	किशोर	१९७०	कृष्णा ब्रदर्स, अजमेर
१३६,	.. प्रतापनारायण श्रीवास्तव	विषमुखी	१९५७	भारतीय प्रतिष्ठान, कानपुर
१३७,	.. ..	विश्वास की वेदी पर	१९६०	गौरीशंकर बुक्स, दिल्ली

क्रमसंख्या	लेखक	कृति	प्रकाशन तिथि	प्रकाशक
१३८.	फणीश्वरनाथ रेणु	दीर्घतपा	१९६३	बिहार ग्रन्थ कुटीर, पटना
१३९. ,,	,,	परतीपरिकथा	१९५७	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
१४०. ,,	,,	मैला आंचल	१९५४	,, ,,
१४१. ,,	,,	जुलूस	१९६५	भारतीय ज्ञानपीठ, कलकत्ता
१४२. ,,	,,	कितने चौराहे	१९६६	राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली
१४३. ,,	[illegible]	अबीर क्योंहि	१९५४	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
१४४. ,,	भैरवप्रसाद गुप्त	सत्तीमैया का चौरा	१९५९	नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद
१४५. ,,	,,	नौजवान	१९७३	रचना प्रकाशन, इलाहाबाद
१४६. ,,	,,	धरती	१९६९	धारा प्रकाशन, इलाहाबाद
१४७. ,,	,,	मशाल	१९५१	,, ,,
१४८. ,,	,,	गंगा मैया	१९५३	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
१४९. ,,	,,	रम्भा	१९६९	धारा प्रकाशन, इलाहाबाद
१५०. ,,	,,	चांदी	१९७१	राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली
१५१. ,,	,,	हवेली	१९६३	बोरा एण्ड कम्पनी, बम्बई
१५२. ,,	,,	जंजीरें और नया आदमी	१९५६	अंकुर प्रकाशन, इलाहाबाद
१५३. ,,	,,	आग और आंसू	१९८२	धारा प्रकाशन, इलाहाबाद
१५४. ,,	,,	इन्साफ	१९५०	दक्षिण भारत हिन्दुस्तानी प्रचार सभा, प्रयाग
१५५. ,,	,,	आशा	१९६३	धारा प्रकाशन, इलाहाबाद
१५६. ,,	,,	अन्तिम अध्याय	१९६९	,, ,,
१५७. ,,	,,	कालिन्दी	१९६३	,, ,,
१५८. ,,	,,	एक जीनियस की प्रेम कथा	१९८०	प्राची प्रकाशन

क्रमसंख्या	लेखक	कृति	प्रकाशन तिथि	प्रकाशक
१५९ प्रथम	भगवतीचरण वर्मा	आखिरी दांव	२००७संवत्	भारती भण्डार, प्रयाग
१६०. ,,	,,	अपने-अपने खिलौने	२०१४ ,,	,, ,,
१६१. ,,	,,	रेखा	१९६४	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
१६२. ,,	,,	चाणक्य	१९८२	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
१६३. ,,	,,	वह फिर नहीं आई	१९६०	,,
१६४. ,,	,,	सबहिं नचावत राम गोसाईं	१९६९	,,
१६५. ,,	,,	सामर्थ्य और सीमा	१९६२	,,
१६६. ,,	,,	अतीत के गर्त में	१९७९	,,
१६७. ,,	,,	टेढ़े मेढ़े रास्ते	२००३ संवत्	भारती भण्डार, इलाहाबाद
१६८. ,,	,,	सीधी सच्ची बातें	१९६८	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
१६९. ,,	,,	भूले बिसरे चित्र	१९५९	,, ,,
१७०. ,,	,,	प्रश्न और मरीचिका	१९७३	,, ,,
१७१. ,,	भारतभूषण अग्रवाल	लौटती लहरों की बाँसुरी	१९६४	राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली
१७२. ,,	भगवतस्वरूप चतुर्वेदी	हिरोशिमा की छायाएँ	-	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
१७३. ,,	भगवतीप्रसाद वाजपेयी	उनसे न कहना	१९५७	राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली
१७४. ,,	,,	हलना	१९५९	राजना०, प्रयाग
१७५. ,,	,,	गुप्त धन	१९३९	गौतम बुक डिपो, मेरठ
१७६. ,,	,,	सूनी राह	१९५४	कला मण्डल, दिल्ली

क्रमसंख्या	लेखक	कृति	प्रकाशन तिथि	प्रकाशक
१७७, प्रथम	भगवतीप्रसाद वाजपेयी	सपना बिक गया	१९६१	प्रभात प्रकाशन, दिल्ली
१७८, ,,	,,	विश्वास का बल	१९५६	भारतीय साहित्य मन्दिर, दिल्ली
१७९, ,,	,,	रात और प्रभात	१९५७	राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली
१८०, ,,	,,	यथार्थ से आगे	१९५५	ओरियण्टल बुकडिपो, दिल्ली
१८१, ,,	,,	छोटे बाबू	१९६६	सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली
१८२, ,,	,,	चलते चलते	१९५१	गौतम बुक डिपो, मेरठ
१८३, ,,	,,	गोमती के तट पर	१९५९	बंसल एण्ड कंपनी, दिल्ली
१८४ ,,	मन्मथनाथ गुप्त	नया सवेरा	१९६०	अतरचन्द कपूर एण्ड संस, दिल्ली
१८५ ,,	,,	बहता पानी	१९५५	साहित्य, प्रयाग
१८६, ,,	,,	अवसान	१९५०	सरस्वती प्रेस, बनारस
१८७, ,,	,,	आस्तीन के सांप	१९६८	राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली
१८८, ,,	,,	दुश्चरित्र	१९५९	प्रोग्रेसिव पब्लि०, १४ डी फिरोजशाह रोड, नई दिल्ली
१८९, ,,	,,	प्रतिक्रिया	१९६१	राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली
१९०, ,,	,,	जागरण	१९६३	,, ,,
१९१, ,,	,,	तूफान के बादल	१९५८	राजहंस प्रकाशन, दिल्ली
१९२, ,,	,,	दो दुनिया	१९५३	भारती प्रकाशन, दिल्ली
१९३, ,,	,,	सागर संगम	१९६२	राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली
१९४, ,,	,,	रंगमंच	१९६२	,, ,,
१९५, ,,	,,	रैन अंधेरी	१९५६	,, ,,
१९६, ,,	,,	अपराजित	१९६०	,, ,,
१९७, ,,	,,	[illegible]	१९५७	किताब महल, इलाहाबाद

क्रमसंख्या	लेखक	कृति	प्रकाशन तिथि	प्रकाशक
१९८, प्रथम	मनहर चौहान	सीमाएं	१९६६	उमेश प्रकाशन, दिल्ली
१९९, ,,	,,	आखिरी सफर	१९७१	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
२००, ,,	,,	सन्तुलन असन्तुलन	१९६४	उमेश प्रकाशन, दिल्ली
२०१, ,,	,,	सूर्य का रक्त	१९६५	,, ,,
२०२, ,,	मोहन राकेश	अन्तराल	१९७२	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
२०३, ,,	~~न आने वाला कल १९६८~~ न आने वाला कल		१९६८	राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली
२०४, ,,	मोहन राकेश	अँधेरे बन्द कमरे	१९६१	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
२०५, ,,	महेन्द्र भल्ला	आदमी और सिक्के	१९७३	,, ,, बम्बई
२०६, ,,	,,	दूसरी तरफ	१९७६	,, दिल्ली
२०७, ,,	ममता कालिया	बेघर	१९७१	रचना प्रकाशन, प्रयाग
२०८, ,,	महेन्द्रकुमार [illegible]	फौलाद के आदमी	१९६३	मिलिन्द प्रकाशन मालवीय नगर भोपाल
२०९, ,,	महेन्द्रकुमार रामपुरी	अविरल आँसू	१९५३	अजन्ता प्रेस लिमिटेड, पटना
२१०, ,,	महावीर अधिकारी	मंजिल के आगे	१९७६	राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली
२११, ,,	~~मार्कण्डेय~~ मार्कण्डेय	अग्निबीज	१९८१	नया साहित्य, प्रकाशन, मिन्टो रोड, इलाहाबाद
२१२, ,,	यादवेन्द्र शर्मा	अन्तिम चरण	१९५१	भारती भण्डार, दिल्ली
२१३, ,,	,,	इन्सान	१९५१	आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली
२१४, ,,	,,	इन्साफ	१९५४	साहित्य प्रकाशन दिल्ली
२१५, ,,	,,	दीवान रामप्रसाद	१९५६	,, ,,
२१६, ,,	,,	पुनिया की शादी	१९५७	भारत सेवक समाज, नई दिल्ली
२१७, ,,	,,	नकली रानी	१९५८	आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली
२१८, ,,	,,	मेंढकु की माँ	१९५९	राम प्रका०, आगरा
२१९, ,,	,,	सच का साथी	१९६०	साहित्य प्रकाशन, दिल्ली

क्रमसंख्या	लेखक	कृति	प्रकाशन तिथि	प्रकाशक
२२०. प्रथम	यज्ञदत्त शर्मा	मधु	१९५३	साहित्य प्रकाशन, दिल्ली
२२१. ,,	,,	स्वप्न खिल उठा	१९६०	राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली
२२२. ,,	यशपाल	अमिता	१९५६	विप्लव कार्यालय, लखनऊ
२२३. ,,	,,	क्यों फँसे	१९६८	,, ,,
२२४. ,,	,,	उमी की माँ	१९५५	,, ,,
२२५. ,,	,,	फूलों का कुर्ता	१९४९	,, ,,
२२६. ,,	,,	उत्तराधिकारी	१९५१	,, ,,
२२७. ,,	,,	चित्र का शीर्षक	१९५१	,, ,,
२२८. ,,	जग का मुजरा १९६२		१९६२	,, ,,
२२९. ,,	यशपाल	मनुष्य के रूप	१९४९	,, ,,
२३०. ,,	,,	दो दुनिया	१९४८	,, ,,
२३१. यादवचन्द्र जैन		उपराम	१९५७	राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली
२३२. ,,	,,	वह जो हीरा था	१९६३	भारतीय साहित्य मन्दिर, दिल्ली
२३३. ,,	,,	हठीलांगी	१९५७	नारायण साहित्य, दिल्ली
२३४. यादवेन्द्र शर्मा		एक और मुख्यमंत्री	१९६९	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
२३५.	,,	खून का टीका	१९६०	विद्या प्रकाशन, दिल्ली
२३६.	,,	हुजूरों की देवी	१९६१	प्रभात प्रकाशन, दिल्ली
२३७ ,,	राही मासूमरजा	ओस की बूँद	१९७०	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
२३८. ,,	रामवृक्ष बेनीपुरी	बेटी की पत्नी	१९७३	,, ,,
२३९. ,,	,,	पतितों के देश में	२०००संवत्	भारतीय भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग

क्रमसंख्या	लेखक	कृति	प्रकाशन तिथि	प्रकाशक
२४०. प्रथम	रमेश बक्षी	चलता हुआ लावा	१९६४	इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली
२४१. ..	..	तीसरा हाथी	१९७५	.. ..
२४२ ..	..	अठारह सूरज के पौधे	१९६५	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
२४३. ..	राही मासूम रज़ा	टोपी शुक्ला	१९६९	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
२४४. ..	राजेन्द्र यादव	अनदेखे अनजान पुल	१९६३	राजपाल एण्ड संस, दिल्ली
२४५. ..	..	एक इंच मुस्कान	१९६२	.. ..
२४६. ..	..	उखड़े हुए लोग	१९५६	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
२४७. ..	..	कुलटा	१९५८	हिन्द पॉकेट बुक्स, दिल्ली
२४८. ..	..	प्रेत बोलते हैं	१९५०	प्रगति प्रकाशन, दिल्ली
२४९. ..	..	मंत्र विद्ध	१९६७	अक्षर प्रकाशन, दिल्ली
२५०. ..	..	शह और मात	१९५९	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
२५१. ..	..	सारा आकाश	१९६०	राजपाल एण्ड संस, दिल्ली
२५२. ..	रामकुमार भ्रमर	कांचघर	१९७१	राजपाल एण्ड संस, दिल्ली
२५३. ..	..	कच्ची पक्की दीवारें	१९७०	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
२५४. ..	राजकमल चौधरी	नदी बहती थी	१९६१	विनोद प्रकाशन, कलकत्ता
२५५. ..	राजेन्द्र मिश्र	पानी बिच मीन प्यासी	१९६६	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
२५६. ..	राजेन्द्र अवस्थी	जाने कितनी आँखें	१९६६	हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी
२५७. ..	..	बहता हुआ पानी	१९७१	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
२५८. ..	..	सूरज किरन की छांव	१९६१	राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली
२५९. ..	रामदरश मिश्र	पानी के प्राचीर	१९६१	हिन्दी प्रचारक बुक, वाराणसी

क्रमसंख्या	लेखक	कृति	प्रकाशन तिथि	प्रकाशक
२६०. प्रथम	रामदरश मिश्र	जल टूटता हुआ	१९६९	नेश०पब्लि०हाउस, दिल्ली
२६१. ,,	राही मासूम रजा	हिम्मत जौनपुरी	१९६९	शब्दकार प्र०स०, दिल्ली
२६२. ,,	रामकुमार भ्रमर	फौलाद का आदमी	१९६९	नेश०पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
२६३. ,,	,,	फांसी	१९७०	,, ,,
२६४. ,,	,,	तीसरा पत्थर	१९६९	राजपाल एण्ड संस, दिल्ली
२६५. ,,	रंजन वर्मा	मलबा	१९७०	राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली
२६६. ,,	रमेश उपाध्याय	स्वरूप बीबी	१९७०	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
२६७. ,,	रघुवंश	तंतुजाल	१९५८	किताब महल, प्रयाग
२६८. ,,	राजकमल चौधरी	शहर था शहर नहीं था	१९६६	विनोद प्रकाशन, कलकत्ता
२६९. ,,	श्रीराम शर्मा	पथ निर्देश	१९५१	श्रीमती सावित्री दुलारे एम०ए० संचालिका भारती, भाषा, दिल्ली
२७०. ,,	रांगेय राघव	धूनी का धुआं	१९५८	वि०पु०मं०, आगरा
२७१. ,,	,,	अंधेरे का जुगनू	१९५३	किताब महल, इलाहाबाद
२७२. ,,	,,	आंधी की नावें	१९६१	आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली
२७३. ,,	,,	आखिरी आवाज	१९६२	राजपाल एण्ड संस, दिल्ली
२७४. ,,	,,	बोलते खंडहर	१९७४	राजपाल एण्ड संस, दिल्ली
२७५. ,,	,,	विषाद मठ	-	,, ,,
२७६. ,,	,,	बन्दूक और बीन	१९६२	,, ,,
२७७. ,,	,,	घरौंदा	१९६०	,, ,,
२७८. ,,	,,	कब तक पुकारूं	१९५७	,, ,,
२७९. ,,	,,	उबाल	१९५५	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
२८०. ,,	,,	अंधेरे की भूख	१९५५	किताब महल, इलाहाबाद

क्रमसंख्या	लेखक	कृति	प्रकाशन तिथि	प्रकाशक
२८१.	प्रथम रांगेय राघव	बौने और घायल फूल	१९५९	विनोद पुस्तक भंडार, आगरा
२८२.	,, ,,	जब आवेगी काली घटा	१९५८	,, ,,
२८३.	,, ,,	दायरे	१९६१	हिन्द पाकेट बुक्स, दिल्ली
२८४.	,, ,,	छोटी सी बात	१९५९	,, ,,
२८५.	,, राहुल सांकृत्यायन	शादी	१९६०	हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, दिल्ली
२८६.	,, ,,	राजस्थानी रनिवास	१९५३	राहुल प्रकाशन, ~~दिल्ली~~ मंसूरी
२८७.	,, ,,	मधुर स्वप्न	१९५०	आधुनिक पुस्तक भवन, कलकत्ता
२८८.	,, लक्ष्मीनारायण लाल	रूपा जीवा	१९५९	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
२८९.	,, ,,	मन वृन्दावन	१९६६	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
२९०.	,, ,,	प्रेम अपवित्र नदी	१९७२	राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली
२९१.	,, ,,	धरती की आँखें	१९५१	दिल्ली पाकेट बुक्स, दिल्ली
२९२.	,, लक्ष्मीकान्त वर्मा	कंचन मृग	१९८१	लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद
२९३.	,, ,,	खाली कुर्सी की आत्मा	१९५८	किताब महल, प्रयाग
२९४.	,, ,,	एक कटी हुई जिन्दगी	१९६५	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
२९५.	,, लालजी सिंह	काले [illegible]	१९७४	विश्वविद्यालय प्रकाशन, बनारस
२९६.	,, लालचन्द्र गोपाल	नारी का प्रेम	१९६१	साहित्य प्रकाशन, दिल्ली
२९७.	,, लज्जाराम शर्मा	स्वतन्त्र रमा और परतन्त्र लक्ष्मी	१९६१	वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई
२९८.	,, लक्ष्मीनारायण टंडन	आँधी के बाद	१९६१	राजाबाजार, लखनऊ

क्रमसंख्या	लेखक	कृति	प्रकाशन तिथि	प्रकाशक
२९९.	प्रथम लक्ष्मीनारायण	रक्तदान	१९४८	प्रमोद पुस्तक माला
३००.	,, विष्णु प्रभाकर	निष्क्रान्त	१९५५	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली

सहायक ग्रन्थ-सूची

क्रमसंख्या	लेखक	कृति	सन्	प्रकाशक
१.	कृष्णशंकर शुक्ल	"आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास"	१९३४	
२.	डा० श्रीकृष्ण लाल	"हिन्दी साहित्य"	१९४२	
३.	डा० गोपाल राय	"हिन्दी उपन्यास कोश" दो खण्ड	१९६८, १९६९	
४.	जवाहरलाल नेहरू	"हिन्दुस्तान की कहानी"	१९४७	इलाहाबाद
५.	डा० नगेन्द्र (संपादक)	"हिन्दी साहित्य का इतिहास"	१९७३	
६.	पट्टाभि सीता रमैया	"कांग्रेस का इतिहास"	१९४८	दिल्ली
७.	पट्टाभि सीता रमैया	"कांग्रेस का इतिहास"	१९४६	दिल्ली
८.	प्रेमचन्द	"कुछ विचार"		बनारस
९.	डा० प्रेमनारायण टंडन	"हिन्दी उपन्यास : उद्भव और विकास"		
१०.	डा० भोलानाथ	"हिन्दी साहित्य"	(१९५४)	
११.		भारतेन्दु ग्रंथावली द्वितीय भाग।		नागरी प्रचारिणी सभा
१२.	मोहनदास करमचन्द गाँधी	"आत्मकथा"	१९०५	
१३.	मिश्रबन्धु	"विनोद" चौथा खंड	(१९६६ और उसके बाद के संस्करण ४ भाग)	
१४.	रामचन्द्र शुक्ल	"हिन्दी साहित्य का इतिहास"	१९२९	

क्रमसंख्या	लेखक	कृति	सन्	प्रकाशक
१५.	डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	"आधुनिक हिन्दी साहित्य"	१९४०	
१६.	,,	"हिन्दी उपन्यास उपलब्धियाँ"	१९७०	
१७.	,,	"द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास"	१९७३	
१८.	,,	" विजयिनी विजय पताका या वैजयन्ती"	१९८२	
१९.	शिवनारायण	"हिन्दी उपन्यास"	(?)	
२०.	डा० सुरेश सिन्हा	"हिन्दी उपन्यास : उद्भव और विकास"	(१९६५)	
२१.	डा० सत्यपाल चुघ	"ऐतिहासिक उपन्यास"	(१९७४)	
२२.		समसामयिक हिन्दी साहित्य : साहित्य अकादमी	(१९६७)	नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित
२३.		हिन्दी साहित्य, तीन खण्ड	(१९७०	भारतीय हिन्दी परिषद् द्वारा प्रकाशित
२४.		हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास	-	नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित (आधुनिक काल से संबंधित खण्ड)
२५.	डा० त्रिभुवन सिंह	"हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद"	१९५६	

अंग्रेजी सहायक ग्रन्थ-सूची

क्रमसंख्या	लेखक	कृति	सन्	प्रकाशक
१.	अर्नाल्ड केटिल	'इन्ट्रोडक्शन टु द इंगलिश नॉवेल'		लन्दन
२.	आर०सी० मजूमदार	'एन एडवांस्ड हिस्ट्री ऑव इंडिया'	१९५२	लन्दन
३.	इन्ट्रोडक्शन टु पिअरे (Pierre) ए ज़ाँ (Jean)	'नोवेलिस्ट्स ऑन द नॉवेल'	[illegible]	
४.	इ०एफ० बेकर	'दि हिस्ट्री ऑव द इंगलिश नॉवेल प्रथम भाग'		लंदन
५.		'इस्पेक्ट्स ऑव द नॉवेल'		
६.	ई०एम०फार्स्टर	'एस्पेक्ट्स ऑव द नॉवेल'		लंदन
७.	एडविन म्यूर:	'स्ट्रक्चर ऑव द नॉवेल'	१९२८	लंदन
८.	[illegible]	'ह्वाट इज़ द नॉवेल एण्ड ह्वाट इज़ इट गुड फॉर'		न्यूयार्क
९.	एच०एच० रिज़्ले	'द पीपुल ऑफ इंडिया'	१९१५	लन्दन
१०.	ए०यूसुफ अली	'द मेकिंग ऑव इंडिया'	१९२५	लन्दन
११.	,,	'द कल्चरल हिस्ट्री ऑव इंडिया'	१९४०	लन्दन
१२.	एम०वी०पैली	'आउट लाइन्स ऑव इंडियन कांस्टीट्यूशनल हिस्ट्री'	१९२६	लन्दन

क्रमसंख्या	लेखक	कृति	सन्	प्रकाशक
१३.	के०एम० मुंशी	'पिलग्रिमेज टु फ्रीडम'	(१९०२ - १९५०)	बम्बई
१४.	क्लारारीव	'प्रोग्रेस ऑफ रोमांस'	(१९६७)	
१५.	गुरुमुखनिहाल सिंह	'ए कांस्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑव इंडिया'		
१६.	गैट, आर०डब्ल्यु एमसनै, बी०बेली	'द न्यु डिक्शनरी ऑव वाट्स'		
१७.		'वेब्स्टर्स ट्वन्टियथ सेंचुरी डिक्शनरी'		
१८.	जवाहरलाल नेहरू	'एन आटोबायोग्रैफी'	(१९३६)	लन्दन
१९.	जेम्स मिल	'हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इंडिया'	१९४८	लन्दन
२०.	के० रेम्स्यूर :	'मेकिंग ऑफ ब्रिटिश इंडिया'	१९०४	मैन्चेस्टर
२१.	टाम्सन एंड गैरट	'राइज एंड फुलफिलमेंट ऑव ब्रिटिश रूल इन इंडिया' दो भाग	१९३४	लन्दन
२२.	रैल्फ फ़ाक्स	'द नॉवेल एण्ड द पीपुल'	१९३८	लन्दन
२३.	रिचर्ड चर्च	'द ग्रोथ ऑव द इंगलिश नॉवेल'	१९३३	न्यूयार्क
२४.	[illegible]	'द आर्ट ऑव नॉवेल'.	१९३३	न्यूयार्क
२५.	लार्ड रौनेल्ड के:	'द आर्ट ऑव बायोग्राफी	१९३५	लन्दन
२६.	वेब्स्टर	'द न्यू इन्टरनेशनल डिक्शनरी ऑव इंगलिश लैंग्वेज'		

क्रमसंख्या	लेखक	कृति	सन्	प्रकाशक
२७.	विंसेंट स्मिथ	'द ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री आफ इंडिया'	१६२३	ऑक्सफोर्ड
२८.	हेनरी जेम्स	'द आर्ट ऑव फिक्शन,	१६४८	न्यूयार्क
२६.	हर्बर्ट जे० म्यूलर	'माडर्न फिक्शन, ए स्टडी ऑफ वैल्यूज'		